❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक। भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर। किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ४ | गौराब्द ४७२, मास—दामोदर २०, वार—वासुदेव रविवार, ३० कार्त्तिक, सम्वत् २०१५, १६ नवम्बर १९५८ | संख्या ६

श्रीश्रीगोवर्द्धनाष्टकम्

[श्रीमद्-रूप-गोस्वामि-विरचितम्]

श्रीगोवर्द्धनाय नमः

नीलस्तम्भोज्ज्वल रुचिभरैर्मण्डिते बाहुदण्डे छत्रच्छायां वृषदभरिपोर्लब्ध सप्ताहवासः ।
धारापात-क्लपितमनसां रक्षिता गोकुलानां कृष्णप्रेयान् प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥१॥

भीतो यस्मादपरिगणयन् बान्धव-स्नेहबन्धान् सिन्धावद्रिस्थरितमविशत् पार्वती-पूर्वजोऽपि ।
यस्तं जंभद्विषमकुरुत स्तंभ संभेदशून्यं स प्रौढात्मा प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥२॥

आविष्कृत्य प्रकट-मुकुटाटोपमङ्गः स्थवीयः शैलोऽस्मीति स्फुटमभिदधत्तुष्टि-विस्फारदृष्टिः ।
यस्मै कृष्णः स्वमरसयद्वल्लवैर्दत्तमन्नं धन्यः सोऽयं प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥३॥

अद्याप्यूर्ज-प्रतिपदि महान् भ्राजते यस्य यज्ञः कृष्णोपज्ञं जगति सुरभि-सैरभी क्रीडयाढ्यः ।
शस्पाडम्बोत्तम्-तटतया यः कुटुम्बं पशूनां सोऽयं भूयः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥४॥

श्रीगान्धर्वा-दयितसरसी पद्मसौरभ्य-रम्यं हृत्वा शङ्कोत्करपरवशैरस्यनं सञ्चरद्भिः ।
अन्तःक्षोद प्रहरिककुलेनाकुलेनानुयातै-र्वातैर्जुष्टः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥५॥

कंसारातेस्तरिविलसितैराजरानङ्ग-रङ्गै-राभीरीणां प्रणयमभितः पात्रमुन्मीलयन्त्याः ।
धौत-प्रावावलिरमलिनैर्मानसामर्त्यसिन्धो-र्वीचिव्रातैः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥६॥

यस्याध्यक्षः सकल-हठिनाः नाददे चक्रवर्ती शुल्कं नान्यद्व्रजमृगदृशानर्पणाद्विग्रहस्य ।
बृहस्योच्चैर्मधुकर रुचस्तस्य धाम-प्रपञ्चैः श्यामस्थः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥७॥
गान्धर्वायाः सुरत कलहोद्दामता वावदूकैः कलान्त श्रोत्रोत्पल-वलयिभिः चिह्न-पिञ्छावतंसैः ।
कुंजैस्तल्पोपरि परिलुठद्वैजयन्ती-परीतैः पुष्याक्ष्णीः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः ॥८॥
यस्तुष्टात्मा स्फुटमनुपठेच्छ्रद्धया शुद्धयान्तर्मेध्यः पद्याष्टकमचटुलः सुष्ठु गोवर्द्धनस्य ।
सान्द्रं गोवर्द्धनधर-पदद्वन्द्वशोणारविन्दे विन्दन् प्रेमोत्करमिह करोत्यद्रिराजे स वासम् ॥९॥

अनुवाद—

जो नील वर्णके खंभे सी अतिशय उज्ज्वल कान्तिसे मण्डित श्रीकृष्णके भुजदण्डके ऊपर छत्रकी भाँति सुशोभित हुए थे और जो अघासुरके हन्तारकके कर-पल्लवमें एक सप्ताह काल तक निवास किये थे, मेघ-समुदायकी मुसलाधार वारि-वर्षणसे व्याकुल हुए गोकुल और गोपकुलके रक्षक गिरिराज गोवर्द्धन हमारा सर्वदा कल्याण करें ॥१॥

श्रीपार्वती देवीके पूर्वज मैनाक-पर्वत जिस इन्द्रसे अतिशय भयभीत होकर अपने बन्धु-बान्धवों तकका स्नेह त्याग कर शीघ्रतापूर्वक समुद्रमें प्रवेश कर गये, जंभ दैत्यके शत्रु उन इन्द्रका गर्व भी जिन्होंने चूर्ण-विचूर्ण कर दिया है, वे परम प्रतिभाशाली गिरिराज श्रीश्रीगोवर्द्धन हमारा कल्याण करें ॥२॥

अपने शरीरको विराट कर, अहङ्कारयुक्त होकर 'मैं शैलराज गोवर्द्धन हूँ'—ऐसा कह कर श्रीकृष्णने जिन पर्वतराजके निमित्त गोप-गोपियोंद्वारा निवेदित चतुर्विध भोज्य-पदार्थोंका भोजन किया था, वे परमधन्य गिरिराज गोवर्द्धन हमारा सर्वदा कल्याण करें ॥३॥

कार्त्तिक मासकी शुक्ला प्रतिपदाको जिनका श्रीकृष्णद्वारा प्रकटित अन्नकूट यज्ञ आज तक भी सम्पादित होता आ रहा है, जिनकी गोदमें गाय और भैंस आदि पालतू पशु-वृन्द नित्य क्रीड़ाएँ करते हैं, बहुत से झरनोंके जल-सिंचनसे उत्पन्न नयी-नयी हरी-हरी तृणावलीको धारण कर जो पशुओंके परम बान्धव स्वरूप हैं, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें ॥४॥

श्रीराधाकुण्ड और श्यामकुण्डके कमल-पुष्पोंके सौरभरूप रत्नकी चोरी करके जो अतिशय भयभीत हैं, और इसलिये निःशब्द तथा जल-बिन्दुरूप रक्षकों द्वारा खदेड़े जाते हैं अर्थात् शीतल-मन्द और सुगन्ध समीर द्वारा सर्वदा परिसेवित हैं, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें ॥५॥

जिनकी तरङ्गोंमें श्रीकृष्णने नाविक बन कर व्रज-वनिताओंसे उतराईका पण (शुल्क) ग्रहण किया था, श्रीकृष्णको अपना-सर्वस्व समर्पण करनेवाली गोप रमणियोंके प्रणयको बढ़ानेवाली उन मानसी-गङ्गाकी तरङ्गमालाओंसे जिनकी शिलाएँ निरन्तर प्रक्षालित होती हैं, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें ॥६॥

मरकतकी शिलाओंसे बँधे हुए घाटोंकी कमनीय कान्तिसे जिनका सानुदेश (ऊपरी भागका समतल-प्रदेश) श्यामवर्णका दीखता है, और समस्त घाटों पर स्थित जन-समुदायके अध्यक्ष श्रीकृष्ण जिनके सर्वश्रेष्ठ नायक होकर गोपियोंके देह-अर्पणके अतिरिक्त और कोई भी दूसरा पण ग्रहण नहीं करते, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें ॥७॥

जिस कुञ्जमें कर्णोत्पल (कानोंके लिये कमल पुष्पके आभूषण) गुरझाये पड़े हैं, मृणाल-वलय और मयूर-पिच्छके कर्णफूल जहाँ बिखरे पड़े हैं और जहाँ शय्याके ऊपर वैजयन्ती माला भी विलुण्ठित है, श्रीमती राधिकाके प्रणय-माधुर्यको प्रकाश करनेवाले उन कुञ्जोंसे जिनकी परम मनोहर शोभा हुई है, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें ॥८॥

जो पवित्र चित्तसे दृढ़ श्रद्धा युक्त होकर श्रीगोवर्द्धनके इस मनोहर पद्याष्टकका पाठ करते हैं, वे श्रीगोविन्दके चरण-युगलमें प्रगाढ़ प्रेम-भक्ति लाभ कर गोवर्द्धन गिरिमें वास करते हैं ॥९॥

संत (सज्जन) के लक्षण

निर्दोष (५)

श्रीमहाभारतमें सनत्सुजातने कहा है—

क्रोधकामौ लोभमोहौ विधित्सा ।
कृपासूये मानसाकौ स्पृहा च ॥
इर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा ।
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥

मनुष्योंको इन बारह दोषोंका त्याग करना चाहिये। बारह दोष ये हैं—(१) क्रोध—कामनामें बाधा पड़नेसे क्रोध होता है। (२) काम—स्त्री-सङ्गकी वासना। (३) लोभ—धन-खर्च करनेमें कातरता। (४) मोह—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके ज्ञानसे रहित होना। (५) विधित्सा—विषयोंके प्राप्त होने पर भी उत्तरोत्तर और भी कामनाओंकी वृद्धि होना। (६) अकृपा—निर्दयता। (७) असूया—दूसरोंके गुणोंमें भी दोष दर्शन करना। (८) मान—अपनेमें पूज्यबुद्धि। (९) शोक—स्वार्थकी हानिमें मानसिक क्लेश। (१०) स्पृहा—भोगोंकी कामना। (११) इर्ष्या—दूसरोंका उत्कर्ष न सहन होनेकी प्रवृत्ति। (१२) जुगुप्सा—परनिन्दा। इन बारह प्रकारके दोषोंमेंसे कोई भी एक दोष मनुष्यका सर्वनाश करनेमें समर्थ है। और जहाँ ये बारहों एक साथ मिले हुए हों, वहाँ वे मनुष्यकी कैसी भयंकर दुर्गति करते हैं, यह वर्णनातीत है। सज्जन पुरुष इन बारह प्रकारके दोषोंसे सर्वथा बचेंगे।

सनत्सुजातने उक्त बारह प्रकारके दोषोंके अतिरिक्त और भी ३२ प्रकारके दोषोंका वर्णन किया है। जिनमेंसे अट्ठारह दोष अजितेन्द्रिय पुरुषोंके, छः दोष त्यागके अभावके और आठ दोष प्रमादके हैं। वैष्णव साधु इन समस्त प्रकारके दोषोंसे सर्वथा मुक्त होते हैं। मायावादीजन भगवान्‌के प्रति अपराधी और कृष्ण-सेवा विमुखोंके अग्रणी हैं। उनके दोष-समूह भी सज्जन व्यक्तियोंको स्पर्श नहीं करते।

निर्बोध कपटी भक्त शुद्ध भक्तिके आचरणसे विमुख होकर तरह-तरहके दोषोंका शिकार होता है। वह दैन्यका यथार्थ स्वरूप न समझ सकनेके कारण सुनिर्मल-सज्जनोंके चरित्रमें दैन्यका अभाव कल्पना कर वैष्णवापराधी हो पड़ता है। कनिष्ठ भागवतोंको इस दोषसे सावधान रहना चाहिये; क्योंकि यह दोष कनिष्ठ भक्तमें सहज ही प्रवेशकर उनके उच्च अधिकारकी प्राप्तिमें बाधक होता है। दुष्ट लोग श्रीवृन्दावनदास ठाकुरकी भगवद्विद्वेषीके प्रति कठोर उक्तियोंको सुनकर उनमें दैन्यका अभाव दर्शन करते हैं। सहजियागण' दुश्चरित्रताके विरोधियोंमें या नदिया-नागरियोंके विषयाश्रयगत अज्ञानताको जीवके लिये सर्वथा अहितकर और अपराधमय बतलानेवालोंमें दैन्यका अभाव मानते हैं। इसमें उन्हीं लोगोंका अहित है दूसरोंका नहीं। कोमलश्रद्ध व्यक्तियोंके विचार अस्थिर और एक देशीय होते हैं। वे अपने ही पैरोंमें कुल्हाड़ी मारकर अपने हिताकांक्षियोंको शत्रु समझते हैं और शुभचिन्तकोंका छिद्रान्वेषण कर अपने दैन्यको जड़से उखाड़ फेंकते हैं।

सज्जन व्यक्ति दैन्यका यथार्थ स्वरूप जानकर निर्बोध व्यक्तियोंसे प्रतिष्ठाकी आशा नहीं करते। वे उनका सब तरहसे हित करते हैं; क्योंकि सज्जन व्यक्ति निर्दोष होते हैं। श्रीदामोदर स्वरूपने बंगदेशीय मायावादीको चिकनी-चुपड़ी बातोंसे उत्साह देनेके बदले कपट दैन्यको छोड़कर उसके सच्चे कल्याणकी कामना की थी। श्रीवल्लभ भट्टके कल्याणके लिये, श्रीकालाकृष्ण दासको भट्टथारियोंके पंजेसे छुड़ानेके लिये 'तृणादपि सुनीच' इस महासत्यके शिक्षक श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कुछ दोष नहीं किया, बल्कि उनका यथार्थ कल्याण किया था। इसके द्वारा उनमें तृणादपि सुनीचताका—दैन्यका अभाव मानना अपराध है—महा दोष है। सज्जन व्यक्तिको निर्दोष जान लेने पर सच्चे अर्थोंमें अमानी-धर्म और दैन्यकी उपलब्धि होती है। ऐसा सौभाग्य उदित होने पर निर्बोध व्यक्ति उपरोक्त समस्त प्रकारके दोषोंका त्याग कर सज्जन व्यक्तियोंकी भाँति निर्दोष हो सकेंगे।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

भक्तितत्त्व-विवेक

प्रथम भाग

[गतांकसे आगे]

अन्याभिलाषिताशून्यता और ज्ञान-कर्मादिसे अनावृतता—यह भक्तिका तटस्थ लक्षण है। 'विष्णु-भक्तिं प्रवक्ष्यामि यया सर्वमवाप्यते,—इस आधे श्लोकमें (भक्तिसन्दर्भ) भक्तिके तटस्थ लक्षणका विवेचन हुआ है। इसका अर्थ यह है कि मैं जिस विष्णु भक्तिकी बात कह रहा हूँ, उस भक्तिके द्वारा जीव सब कुछ पा लेता है। प्राप्तिकी आशाका नाम ही अभिलाषिता है। 'अन्याभिलाषिता'-शब्द से कोई यह न समझे कि भक्तिकी उन्नति और उसके उत्कर्षकी अभिलाषा भी परित्याज्य है। 'मेरी साधन भक्ति भावस्वरूपता प्राप्त करे' ऐसी अभिलाषा उत्तम है, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्यान्य समस्त प्रकारकी अभिलाषाएँ परित्याज्य हैं। अन्य अभिलाषाएँ दो प्रकार की होती हैं—भुक्ति (भोग) की अभिलाषा और मुक्तिकी अभिलाषा। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

> भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
> तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

जबतक भुक्ति और मुक्तिकी कामनारूप दो पिशाचियाँ हृदयमें वर्त्तमान रहती हैं, तब तक स्वरूप सिद्धा भक्तिका पवित्र सुख तनिक भी उदय नहीं होता। कायिक और मानसिक भोग मात्र भुक्ति शब्दके अन्तर्गत हैं। इस जन्ममें निरोग रहना, सुस्वादु, भोजनकी प्राप्ति, बल-वीर्यकी प्राप्ति, धन, जन, स्त्री, पुत्र, कन्या, यश और जयकी प्राप्ति—यह सब कुछ भुक्तिके ही अन्तर्गत है। मरनेके बाद ब्राह्मणकुलमें जन्म, राजकुलमें जन्म, स्वर्गकी प्राप्ति, ब्रह्मलोककी प्राप्ति आदि समस्त प्रकारके पारलौकिक सुख भी भुक्ति ही है। अष्टांग योग, अष्टादश सिद्धियाँ और आठ प्रकारके ऐश्वर्य भी भुक्तिके ही अन्तर्गत हैं। भुक्तिकी पिपासासे मनुष्य कामके अधीन होकर काम-क्रोध आदि छः रिपुओंके वश हो पड़ता है। मत्सरता आसानीसे हृदयपर अधिकार कर लेती है। अतः शुद्धाभक्ति प्राप्त करनेके लिये भुक्तिकी कामनाको सम्पूर्णरूपसे दूर रखना चाहिए। भुक्ति-कामनाको छोड़नेके लिये बद्धजीवोंको विषयोंका परित्यागकर वनमें जाना ही पड़ेगा—ऐसी बात नहीं है। वनमें जानेसे ही अथवा संन्यासीका वेश ग्रहण करनेसे ही भला भुक्ति क्यों छोड़ने चली? विषयोंके बीच रह कर भी विषयासक्तिका परित्यागकर भक्तिके प्रति आसक्ति होनेपर भुक्ति-कामना पीछा छोड़ सकती है।

इसलिये रूपगोस्वामीने कहा है—

> रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः।
> विषयेषु गरिष्ठोपि रागः प्रायो विलीयते ॥
> अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
> निर्बन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥
> प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरि सम्बन्धि वस्तुनः।
> मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

जिस समय जीवकी रुचि कृष्ण भजनके प्रति हो जाती है, उस समय जीवकी विषयोंके प्रति गाढ़ी आसक्ति रहने पर भी वह क्रमशः लुप्तप्रायः हो पड़ती है। उस समय वे अनासक्त भावसे आवश्यकतानुसार विषयोंको ग्रहण करते हुए इन विषयोंको कृष्ण सम्बन्धी जानकर जो आचरण करते हैं, उसे युक्त-वैराग्य कहते हैं। जो लोग हरि-सम्बन्धी वस्तुओंको प्रापञ्चिक (मायामय) जानकर जड़ीय मुक्तिकी कामनासे उनका त्याग कर देते हैं; उनका वैराग्य फल्गु या तुच्छ है। शरीरी जीवके लिये विषयोंका सम्पूर्ण रूपसे परित्याग

करना संभव नहीं है। परन्तु विषयोंकी बहिर्मुखी प्रवृत्तिको दूर कर समस्त विषयोंमें भगवद्भाव युक्त कर उन विषयोंको स्वीकार करनेसे विषयी नहीं होना पड़ता है। रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द ये ही कतिपय विषय हैं। संसारको इस प्रकारसे तैयार करना चाहिये कि संसारके समस्त रूप कृष्णसे सम्बन्धित दीख पड़ें अर्थात् या तो श्रीभगवानका विग्रह, और नहीं तो भगवत् रूप कृष्णकी पुष्प-वाटिका, नदी, पथ, आदि ही देखे जाँय; समस्त प्रकारके रसोंमें कृष्ण-प्रसाद ही मिले; समस्त प्रकारके गन्धोंमें प्रसादीगन्ध ही उपलब्ध हो, समस्त द्रव्य—जो स्पर्श हों—वे कृष्ण-सम्बन्धी द्रव्य ही जान पड़ें; और हरि-कथा (शब्द) या कृष्णके सेवकोंकी कथाका ही श्रवण किया जाय। ऐसी व्यवस्था होने पर विषयोंके प्रति भगवद्बहिर्मुख भावना नहीं रहती। भोगोंमें जो सुख होता है, उसे स्वयं भोग करनेकी प्रवृत्ति उपस्थित होनेसे भुक्ति साधकके हृदयको सहज ही आक्रमण करती है। परन्तु अखिल वस्तुओंको कृष्णार्थ ग्रहण करनेसे भुक्तिकी कामना दूर हो जाती है तथा शुद्धा भक्तिका अभ्युदय होता है।

भुक्तिकी कामनाको दूर करना जैसा कर्त्तव्य है, वैसा मुक्तिकी कामनाको दूर करना भी सर्वतोभावेन कर्त्तव्य है। मुक्तिके सम्बन्धमें कुछ निगूढ़ विचार हैं। शास्त्रोंमें पाँच प्रकारकी मुक्तिका उल्लेख देखा जाता है—

सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्य-सामीप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

—श्रीकपिलदेवजी बोले—मातः! मेरे शुद्ध भक्तजन सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य और एकत्वरूप पाँच प्रकारकी मुक्ति दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करते। वे केवल मेरी सेवा ही ग्रहण करते हैं। सालोक्य मुक्तिमें भगवानका लोक प्राप्त होता है। भगवान जैसे ऐश्वर्यकी प्राप्तिका नाम सार्ष्टि है। भगवानकी निकटताकी प्राप्तिका नाम सामीप्य है। भगवान विष्णु जैसे चतुर्भुज रूपकी प्राप्तको सारूप्य कहते हैं। सायुज्य प्राप्तिका नाम एकत्व है। सायुज्य मुक्ति दो प्रकारकी होती है—ब्रह्म-सायुज्य और ईश्वर सायुज्य। ब्रह्मज्ञान अन्तमें जीवोंको ब्रह्म-सायुज्य प्रदान करता है। आध्यात्मिक शास्त्रोंके अनुसार आचरण करनेसे ब्रह्म-सायुज्य होता है। पातंजलि योगका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेसे कैवल्यरूप ईश्वर-सायुज्यकी प्राप्ति होती है। भक्तोंके लिये ये दोनों प्रकारकी सायुज्य मुक्तियाँ ही अत्यन्त हेय हैं। जो लोग चरम अवस्थामें सायुज्य प्राप्त होनेकी आशा रखते हैं, वे भी भक्तिका आचरण करते हैं; परन्तु उनकी भक्ति अनित्य और धूर्ततापूर्ण होती है। वे लोग भक्तिको नित्यधर्म नहीं मानते। वे तो भक्तिको केवल ब्रह्म-प्राप्तिका एक उपाय मात्र मानते हैं, उनकी दृष्टिमें ब्रह्म प्राप्तिके पश्चात् फिर भक्ति रहती ही नहीं। इसलिये आध्यात्मिक साधक पुरुषोंके निकट भक्तिकी बड़ी दुर्दशा होती है। जो लोग सायुज्य मुक्तिको चरम फल मानते हैं, उनके हृदयमें शुद्धा भक्तिका कभी निवास नहीं होता। दूसरी मुक्तियोंके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीका कथन है—

अत्र त्याज्यतयैवोक्ता मुक्तिः पंचविधापि चेत् ।
सालोक्यादिस्तथाप्यत्र उक्ता नाति विरुद्ध्यते ॥
सुखैश्वर्योत्तरा सेयं प्रेम-सेवोत्तरेत्यपि ।
सालोक्यादि द्विधा तत्र नाद्या सेवासुखा मता ॥
किन्तु प्रेमैक माधुर्यसुख एकान्तिनो हरौ ।
नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि ॥

पूर्वोक्त पाँच प्रकारकी मुक्ति भक्तोंके लिये परित्याज्य होने पर भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सार्ष्टि—ये चार प्रकारकी मुक्तियाँ भक्तिके अत्यन्त विरुद्ध नहीं हैं। उक्त चार प्रकारकी मुक्तियाँ पात्रभेदसे दो आकार धारण करती हैं—सुख-ऐश्वर्य प्रदानकारी और प्रेम-सेवा प्रदानकारी। जो लोग अहंग्रहोपासना आदि उपायके द्वारा वैकुण्ठ लाभ करते हैं, वे मुक्ति द्वारा सुख और ऐश्वर्य रूप फल प्राप्त होते हैं। सेवकगण अर्थात् भक्तजन ऐसी मुक्तिको किसी भी हालतमें अङ्गीकार नहीं करते। और

अनन्य प्रेमी भक्तजन तो उक्त पाँच प्रकारकी मुक्तियों-मेंसे किसी एकको भी ग्रहण नहीं करते। इसलिये शुद्ध भक्तोंको मुक्तिकी कामना नहीं होती। इस प्रकार विवेचन द्वारा भक्तिकी अनन्याभिलाषिता सिद्ध होती है। यही भक्तिका एक तटस्थ लक्षण है।

ज्ञान और कर्म आदिसे अनावृत होना भक्तिका एक और भी दूसरा तटस्थ लक्षण है। 'ज्ञान-कर्मादि' शब्दमें जो 'आदि' पद है, उसके द्वारा अष्टाङ्गयोग, वैराग्य, सांख्ययोग आदि औपाधिक धर्मोंका बोध होता है। पहले ही कहा गया है कि जीवके आनुकूल्य-मय कृष्णानुशीलनको भक्ति कहते हैं। जीव चिन्मय हैं, कृष्ण भी चिन्मय हैं और भक्ति-वृत्ति, जिससे जीव कृष्णके साथ नित्य-सम्बन्ध स्थापन करते हैं, वह भी चिन्मयी हैं। जीव शुद्ध अवस्थामें वर्तमान होने पर भक्ति-वृत्तिका स्वरूप लक्षण अकेला ही कार्य करता है। उस समय तटस्थ लक्षणकी गुंजाइश नहीं होती। जीवके बद्ध होकर जड़ जगत्में स्थित होने पर भक्तिके स्वरूप परिचयके साथ और भी दो तटस्थ परिचय उपस्थित हो पड़ते हैं। जड़-जगत्में जीवको अन्य अभिलाषाएँ रहती हैं। इसीलिये शुद्धभक्तिका परिचय देते समय 'अन्य अभिलाषासे रहित होना' यह परिचय देना पड़ता है। चिज्जगतमें इस परिचयकी आवश्यकता नहीं होती। जीव संसार-समुद्रमें पतित होकर नाना प्रकारके बहिर्मुख कार्योंमें लिप्त हो जाता है। इससे उनको कृष्ण-विस्मृति रूप एक रोग आक्रमण करता है। उस रोगकी ज्वालासे तड़फड़ाते हुए जीवोंमें संसार-समुद्रसे उद्धार पानेकी कामना पैदा होती है। वे उस समय मन-ही-मन अपनेको धिक्कारते हुए कहते हैं—'हाय! मैं बड़ा ही भाग्य हीन हूँ! मैं इस दुस्तर संसार-सागरमें गिरकर अनन्त वासनारूप लहरोंकी थपेड़ोंसे इतस्ततः भटक रहा हूँ। समय-समय पर काम-क्रोध रूप मगर आदि हिंसक जन्तुओं द्वारा आक्रांत होकर मारा गया, मारा गया, चिल्ला रहा हूँ बचनेकी तनिक भी आशा नहीं दीखती। क्या करूँ? क्या मेरा कोई बन्धु नहीं है? क्या मेरी रक्षाका कोई भी उपाय नहीं है? हाय! क्या करूँ? कैसे उद्धार पाऊँ? कुछ भी समझमें नहीं आता। हाय! हाय! मैं नितान्त हतभागा हूँ!' ऐसा कहते-कहते जीव थक कर चुप हो पड़ता है।

ऐसी दशामें करुणावरुणालय कृष्णचन्द्र कृपापूर्वक उस जीवके हृदयमें भक्ति लताके बीज-स्वरूप श्रद्धा नामक एक असम्पूर्ण भावका वपन करते हैं। वही बीज श्रवण-कीर्त्तन आदि अनुशीलन रूप जल द्वारा क्रमशः पुष्ट होकर बढ़ता है। अन्तमें जीवका सौभाग्य उदित होने पर भक्तिलतामें प्रेमरूप फल लग जाता है। श्रद्धा-बीजके क्रम-विकासका वर्णन क्रमशः दिखलाऊँगा। अभी यहीं तक जान लेना उचित है कि जिस दिन हृदयमें श्रद्धाका बीज पड़ जाता है, उसी दिन वहाँ भक्ति देवीका आविर्भाव होता है। श्रद्धारूपी भक्ति एक सुकुमारी बालिका हैं। जीवोंके हृदयमें उनका प्रवेश होनेके समयसे ही खूब सावधानी से उनको निरोग अवस्थामें रखना उचित है। जिस प्रकार गृहस्थ अपने अत्यन्त सुकुमार बच्चेकी धूप, शीत, विषैले जीव-जन्तुओं तथा भूख-प्याससे रक्षा करता है, उसी प्रकार सद्यजात श्रद्धादेवीको समस्त प्रकारके अशुभोंसे अनावृत (मुक्त) रखना चाहिये, अन्यथा ज्ञान, कर्म, योग, जड़ा आसक्ति और शुष्क वैराग्य आदिके अनिष्टकर संसर्गसे श्रद्धा क्रमशः उत्तमा भक्तिके रूपमें परिस्फुट न हो सकेगी। बल्कि अनर्थोंके मिश्रणसे क्रमशः वे अन्य रूप धारण कर लेती हैं। अर्थात् श्रद्धादेवी भक्तिरूपा न होकर अनर्थरूपा हो पड़ती हैं। जबतक यथार्थ साधुसङ्गरूप धात्रीके द्वारा लालित-पालित होकर एवं भजनरूप औषधि और पथ्य द्वारा अनर्थशून्य होकर श्रद्धा-सुकुमारी निष्ठा रूपमें उन्नत नहीं हो पातीं, तभी तक उनको रोगका डर बना रहता है। निष्ठा हो जाने पर कोई भी अनर्थ उनको सहज ही पराजित नहीं कर सकता। यदि श्रद्धादेवीको भलीभाँति यत्न पूर्वक पुष्ट न किया गया तो ज्ञान, वैराग्य, आध्यात्म विचार, सांख्य आदि अभ्यास रूप तरह-तरहके कीड़े-मकोड़े, दीमक, मच्छड़ और दूषित वायु द्वारा वे दूषित हो पड़ती हैं। बद्धावस्थामें जीवके ज्ञान, वैराग्य आदि तो

अनिवार्य है; परन्तु ये ज्ञान आदि भाव यदि प्रतिकूल प्रकारके हों तो ये भक्तिको नष्ट कर देते हैं; अतएव जीव गोस्वामीने यहाँ ज्ञान शब्दसे निर्भेद ब्रह्मानुसंधानको लक्ष्य किया है। निर्भेद ब्रह्मानुसंधान या आध्यात्मिक ज्ञानको दूर करना नितान्त आवश्यक है। भगवज्ज्ञान भक्तिका सहायक होता है। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि जो ज्ञान आगे उपस्थित होकर भक्तिको उत्पन्न करनेकी प्रस्तावना करता है, वही ज्ञान दुष्ट है, परन्तु श्रद्धाके अनुशीलनके साथ-साथ जीव हृदयमें माया और ईश्वरका परस्पर सम्बन्ध निरूपक जो ज्ञानोदय होता है, वह ज्ञान भक्तिका सहायक होता है तथा उसीका नाम अहैतुक ज्ञान है। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें श्रीसूतजीने कहा है—

> वासुदेवे भगवती भक्तियोगः प्रयोजितः।
> जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥

अब पूर्वोक्त समस्त बातों पर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे पता चलता है कि ज्ञान-कर्मादि द्वारा आच्छादित न होकर अर्थात् इन सब भावोंको अपने परिचारकके रूपमें ग्रहण कर अन्याभिलाषसे-शून्य होकर जो आनुकूल्यमय कृष्णानुशीलन होता है वही उत्तमा भक्ति है। भक्ति ही जीवकी एकमात्र आनन्दमयी प्रवृत्ति है; तदतिरिक्त समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुख हैं। भक्तिकी सहायतासे कर्म कभी-कभी आरोपसिद्धा भक्तिके रूपमें परिचित होता है। भक्तिकी सहायतासे कभी-कभी ज्ञान भी संगसिद्धा भक्तिके रूपमें परिचित होता है। परन्तु वे किसी समय स्वरूप सिद्धा भक्ति नहीं हो सकते। स्वरूप-सिद्धा भक्ति कैतवशून्य अमिश्रानन्द-स्वरूप होती हैं। आरोप-सिद्धा भक्ति सकैतवा और मिश्रभाव प्रकाशिनी होती है। हे अन्तरङ्ग वैष्णवगण! आपलोगोंकी स्वभावतः स्वरूप-सिद्धा भक्तिके प्रति ही रुचि होती है; आरोप-सिद्धा या संगसिद्धा-भक्तिके प्रति रुचि नहीं होती। क्योंकि ये दोनों प्रकारकी भक्तियाँ स्वरूपतः भक्ति नहीं हैं। उन दोनों भावोंका नाम भक्ति तो कुछ दूसरे लोगोंने ही रख दिया है। वास्तवमें उनको भक्ति नहीं—भक्त्याभास कहा जा सकता है। यदि सौभाग्यवश भक्ति-आभासके द्वारा भक्तिके स्वरूपके प्रति श्रद्धा हो जाय तभी वे अन्तमें भक्तिके रूपमें परिणत होती हैं। परन्तु यह सहज बात नहीं है, बल्कि उनके द्वारा शुद्ध भक्तिसे च्युत हो जाना पड़ता है; इसीलिये सर्वत्र ही स्वरूपसिद्धा भक्तिको ही वरण करनेका उपदेश पाया जाता है।

हे अन्तरङ्ग भक्तजन! मैंने इस छोटेसे लेखमें शुद्धा भक्तिका स्वरूप वर्णन किया है। पूर्वाचार्योंके अगले-पिछले समस्त वाक्योंका भलीभाँति विवेचन कर उनके मनोभावोंको स्वल्पाक्षरोंमें लिपिबद्ध करनेकी इच्छासे मैं निम्नलिखित एक श्लोककी रचना कर रहा हूँ—

> पूर्णचिदात्मके कृष्णे जीवस्याणु चिदात्मनः।
> उपाधि-रहिता चेष्टा भक्तिः स्वाभाविकी मता॥

श्रीकृष्ण सर्वदा पूर्णशक्तिसम्पन्न बृहच्चैतन्य तत्त्व हैं। जीव उनका किरणस्थानीय अणुचैतन्य-स्वरूप तत्त्व विशेष है। पूर्णचैतन्यके प्रति अणुचैतन्यकी स्वाभाविकी उपाधिरहिता चेष्टाका नाम भक्ति है। अन्याभिलाष, ज्ञान और कर्मके प्रति आग्रह ही उपाधि है। स्वाभाविकी चेष्टा कहनेसे आनुकूल्यमय अनुशीलनको ही समझना होगा।

ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

———

मुनियोंका मतिभ्रम

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ४, संख्या ४, पृष्ठ ८६ से आगे]

जो परात्पर-तत्त्व हैं, वे निराकार निर्विशेष नहीं हैं, यह बात जननेताओंके दिमागमें किसी प्रकार भी ढूकती नहीं है। हम शास्त्रोंमें भगवान्‌की विराट-विराट विलासमूर्त्तियोंका परिचय पाते हैं; जैसे—कारणार्णवशायी विष्णु मूर्त्तिमान हैं। किन्तु उन कारणार्णवशायी विष्णुके भी आदि-पुरुष श्रीकृष्ण हैं—वास्तवमें इस बातका उनके क्षुद्र मस्तिष्कमें स्थान मिलना बड़ा ही कठिन है। परन्तु कृष्णकी कृपा होने पर यह हृदय-काठिन्य या हृदय-दौर्बल्य सहज ही दूर हो जाता है। तब, वे ही द्विभुज मुरलीधर श्याम-सुन्दर होकर मथुरामें आविर्भूत हुए हैं—यह तथ्य समझमें आ जाती है।

जो लोग कृष्णकी कृपा लाभ किये बिना ही श्रीकृष्णको बूझ लेनेकी चेष्टा करते हैं, वे डा० राधाकृष्णनकी तरह पण्डित होने पर भी निश्चय ही मतिभ्रम होंगे। वे 'वेदेषु दुर्लभः अदुर्लभः आत्मभक्तौ' हैं। केवल पण्डित होनेसे ही कृष्णको जाना नहीं जाता। श्री सार्वभौम भट्टाचार्यने भी अपनी पाण्डित्य-लीला द्वारा इस तथ्यकी पुष्टि की है। विख्यात ग्राम्य-कहानी-लेखक बंकिम बाबू या डा० भाण्डारकर भी इस विषयमें मोहित हो पड़े हैं। कृष्णको जाननेके लिये श्रीगीताजीने जिस पथका निर्देश दिया है—'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः'—उसी पथसे जानना होगा, इसके अतिरिक्त दूसरा पथ नहीं। अथवा श्रीकृष्णने स्वयं ही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण होकर जिस तरीकेसे श्रीकृष्णको जाननेके लिये उपदेश दिया है, इसी प्रकार से श्रीकृष्णको जाना जा सकता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी परम्परामें छः गोस्वामियोंने वृन्दावनमें बैठ कर श्रीकृष्ण-तत्त्वका विस्तृत विवेचन किया है। उन सब कथाओंका जगत्‌में आज भी ठीक-ठीक प्रचार नहीं हुआ है। प्रचार न होने का कारण यह है कि उनकी विचार-पद्धति दार्शनिकोंकी आँखोंके सामने पड़ी नहीं है। और इसके लिये हमीं दोषी हैं—इसे हम स्वीकार करते हैं। श्रीरूप-रघुनाथकी वाणियों का जगत्‌में प्रचार करनेके लिये ही श्रीगौड़ीय-मठकी स्थापना हुई थी।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस विराट रूप का दर्शन कराया था, वह रूप भगवानका परम भाव नहीं है। परन्तु द्विभुज-मुरलीधर नर-आकार ही उनका परम भाव है। उनका आनन्द—सच्चिदानन्द है, रूप—सच्चिदानन्द है, नाम—सच्चिदानन्द है। नराकार होनेके कारण, वे साधारण नर या मनुष्य नहीं है अथवा वे कोई ऐतिहासिक अति-मानव या महामानव भी नहीं हैं। मनुष्यका रूप या आकार भगवान्‌के स्वरूपका नकल हो सकता है; किन्तु इसीलिए मनुष्य भगवान नहीं है या भगवान् मनुष्य नहीं हैं। बाइबिल और कुरान आदि ग्रन्थोंमें भी ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि भगवानने अपने रूपके समान या आकारके समान मनुष्यका रूप बनाया है। परन्तु इसीलिये भगवान् मनुष्य नहीं हो जाएँगे। अतएव जो लोग इन तत्त्वोंको यथार्थरूपमें जान लेते हैं, वे जड़ शरीर त्यागकर भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं—श्रीमद्भगवद्गीतामें हम इसका प्रमाण पाते हैं। अर्थात् जो भगवान्‌का परमभाव जान लेते हैं, वे अमृततत्त्व प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। प्रत्येक जीव इस अधिकारका अधिकारी हो सकता है—बशर्ते वह ऐसी इच्छा करें। ऐसा अधिकार प्राप्त होने पर ही जीव परम-सिद्धिको प्राप्त होता है। परम-सिद्धि प्राप्त हो जाने पर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिसे पूर्ण नश्वर जगत्‌में पुनः लौट कर आना नहीं पड़ता। अतः उसी 'भाव' का प्लॉन करके जो जीवन निर्वाह करते हैं,

वे ही सच्चे मनुष्य जीवनकी सार्थकता साधन किया करते हैं। 'आर सब मरे अकारण।'

जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे परिपूर्ण इस अनित्य संसारको अजर-अमर बनानेके प्लॉनका नाम ही माया है। जड़ जगत्में सुखसे वास करनेके लिये प्लॉन करना एक महा चालबाजी है। जिस प्लॉनके द्वारा भविष्यमें शूकर, कुत्ता आदि योनियोंमें जन्म लेनेकी व्यवस्था होती है, वह प्लॉन अच्छा है या जिस प्लॉनके द्वारा 'Back to God-head' जाया जाता है, वह प्लॉन अच्छा है? भगवानके साथ रह कर दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि विभिन्न रसोंमें जो हमारी सेवाका अस्तित्व है, इस लीलाको प्रकट कर हमें आकर्षण करनेके लिये—'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—मंत्रकी हमें शिक्षा देनेके लिये श्रीकृष्ण या श्रीचैतन्यमहाप्रभु कृपाकर आये थे—इस बातको जो समझ नहीं पाये अथवा जिन्होंने समझनेकी चेष्टा नहीं की, उनके समान और कौन 'वंचित' है? उनका जन्म व्यर्थ है। श्रीतुलसीके शब्दोंमें वे 'बिना सिंग और पूँछ वाले पशु' हैं तथा श्रीनरोत्तमदास ठाकुरके शब्दोंमें 'सेई पशु बड़ दुराचार' हैं।

भगवानके इस रूपमें अवतरण करनेके सम्बन्धमें डा० राधाकृष्णनने अनभिज्ञतावश यह मन्तव्य प्रकाश किया है—'An Avatar is a descent of God into man and not an ascent of a man into God.' अर्थात् भगवान् मनुष्यका रूप धारण करके आते हैं, इसीको अवतार कहते हैं परन्तु मनुष्य कभी भी भगवान् नहीं है। 'मनुष्यका रूप धारण करके आते हैं'—इसका तात्पर्य यह है कि अवतार-समूहका शरीर पाञ्चभौतिक होता है। 'मनुष्य कभी भी भगवान नहीं हो सकता'—ऐसा उन्होंने किस भावसे कहा है, यह बात ठीक-ठीक समझमें नहीं आ रही है। हो सकता है, उन्होंने यह बात उन लोगोंको लक्ष्य करके कही हो, जो लोग मनुष्यको भगवान् बतलाते हैं। आजकल मनुष्यको भगवान सजाना एक बहुत ही सहज और साधारण व्यापार हो गया है। यत्रतत्र सर्वत्र अवतार महाशयोंकी जोरोंसे पैदावार बढ़ रही है। केवल अवतार ही क्यों 'सभी मनुष्य भगवान् हैं'—बाजारमें इस बातकी भी बड़ी कटती है। परन्तु सम्प्रति हम इन बातोंकी आलोचनामें न फँस कर डा० राधाकृष्णनको कहना चाहते हैं कि जीवतत्त्वमें जब भगवान् शक्ति संचारकर अपना कार्य सम्पन्न करते हैं, तब उसे शक्त्यावेश अवतार कहा जाता है। किन्तु यह शक्त्यावेशावतार ही चरम तत्त्व नहीं है। शास्त्रोंमें भगवानके असंख्य अवतारोंका उल्लेख है। जैसे स्वयंरूप, स्वयं-प्रकाश, आवेश, विलास, प्राभव, वैभव, युगावतार, पुरुषावतार, गुणावतार, शक्त्यावेशावतार, मन्वन्तरावतार आदि आदि। यदि केवल मन्वन्तरावतारका भी हिसाब किया जाय तो पता चलेगा कि १४×३०×१२×१००=५०४००० वर्षोंमें एकबार मन्वन्तर अवतार होता है। दूसरे अवतारोंकी तो बात ही अलग रहे। इन अवतारोंमें से प्रत्येकका क्या कार्य है? उनका रूप कैसा है? आदि विषय ज्योतिषशास्त्रके आँकड़ोंके अनुसार दिये गये हैं। जनमत वोट देकर जिसे-तिसे भगवान् खड़ा कर देगा, ऐसा कोई उपाय नहीं है। इतना होने पर भी जो लोग मनुष्यको अवतार खड़ा करते हैं, उनका शास्त्र-ज्ञान कितना मजबूत है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु सरस्वतीने डा० राधाकृष्णनके मुखसे जो यह बात कहलवायी है—'मनुष्य कदापि भगवान् नहीं हो सकता है'—

उसे हम और भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि—'मनुष्य मुक्त होने पर भी भगवान् नहीं हो सकता है।' मुक्त होने पर भक्त होनेकी सुविधा तो हो सकती है; परन्तु भगवान बन जाने अथवा उनमें निश्चिह्न होकर मिल जानेकी कोई सुविधा नहीं है। इसीलिये अनेक मुक्त पुरुष भगवान् न होने पर तथा भक्त बनना अस्वीकार करने पर 'आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधः अनादृत युष्मदङ्घ्रयः' विचारके अनुसार पुनः मायिक जगत्की विचि-

व्रताओंके प्रति आकृष्ट होकर राजनीति, समाजनीति आदिमें फँस जाते हैं।

परन्तु इन साधन-मुक्तोंके अतिरिक्त भी और एक प्रकारके नित्य मुक्त जीव हैं, जो इस अनित्य जगत्में आते नहीं हैं। जो जीव इस जगत्में आकर खूब बहादुरी दिखलाते हैं, वे नित्यबद्ध जीव हैं। सारी नदियाँ समुद्रमें जाकर मिल जाती हैं—प्रायः मायावादी यह उदाहरण पेश किया करते हैं। किन्तु समुद्रमें निवास करनेवाले बड़े-बड़े मगर, मछलियाँ आदि जीव-जन्तु नित्यकाल तक (जीवन भर) समुद्रमें ही वास करते हैं, वे कभी भी नदियोंके प्रति आकृष्ट नहीं होते—मायावादियोंको यह जान लेना चाहिए। जो जीव नित्यकाल ही मुक्ति-समुद्रको अश्रय किये रहते हैं अर्थात् जो नित्यकाल ही मुक्त हैं, उनकी फिर मुक्ति कैसी ? डा० राधाकृष्णनने जिसे Self Conscious man बतलाया है, इस पर हमें कोई आपत्ति नहीं है—यदि उस Self Consciousness का तात्पर्य 'जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्णदास'—यह भाव उदय हो। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका विषय यही है। 'जीव कृष्णदास—ए विश्वास करले त आर दुःख नाई।' जिस दिन लोगोंमें यथार्थ Self Conscious का उदय होगा कि 'वे नित्य कृष्णदास हैं' उसी दिन वे मुक्त हो जायेंगे और उसके बाद वे देख पायेंगे कि मुक्ति स्वयं 'सुकुलिताञ्जलि' होकर उन नित्य कृष्णदासोंकी सेवा कर रही है।

प्रामाणिक शास्त्रोंने श्रीकृष्णको अवतारी या 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' स्वीकार किया है। श्रीमद्-भगवद्गीतामें भी उन्होंने यही बात बतलायी है—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय' इत्यादि। कृष्णने स्वयं आविर्भूत होकर बतलाया है कि परतत्त्व एक नपुंसक जड़ तत्त्व नहीं है। वे पूर्ण चिद्-विलास तत्त्व हैं। उनका 'चिद्-विलास' तत्त्व अनुभव करनेमें असमर्थ होकर मूर्ख लोग उसका तरह-तरहसे अर्थ करते हैं। जो ऐसी इच्छा करते हैं कि 'मैं एक होकर भी बहुत होऊँगा' (एकोऽहं बहुस्यामः) क्या वे जड़ या निर्विशेष हो सकते हैं ? जो ऐसा संकल्प करते हैं—मैं अनेकप्रकारसे अपना विस्तार करूँगा—क्या वे कभी अपनेको ध्वंस करनेकी चेष्टा करेंगे ? स्वयं बहुत होकर अपना अपनत्व भी मिटा देना—यही तो अपना ध्वंस करना है। क्या भगवान् भी वैसी मूर्खता किये हैं ?—नहीं, जो 'एकोऽहं बहुस्यामः इस श्रुतिमंत्रका कदर्थ कर ऐसा कहते हैं—'जब भगवान् अनेक रूपोंमें विभक्त हो गये, तब उनका अपना अस्तित्व ही कहाँ रहा ?' भगवान् इच्छामात्र अनंत प्रकारके स्वांश, विभिन्नांश एवं शक्तियोंके रूप में अपना विस्तार कर सकते हैं और ऐसा विस्तार करके भी वे ज्यों-के-त्यों स्वरूपमें स्थित रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो वे पूर्ण वस्तु कैसे हो सकते हैं ?

—श्रीअभयचरणारविन्द 'भक्तिवेदान्त'
एडिटर, बैक-टू-गोडहेड

अचिन्त्यभेदाभेद

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ४, संख्या ५, पृष्ठ ११० से आगे]

यह पहले ही कहा गया है कि 'विख्यात मध्यमत' के सम्बन्धमें सुन्दरानन्दकी उक्तिको उनके स्व-रचित 'वैष्णवाचार्य श्रीमध्व' ग्रन्थसे लिया गया है। इस ग्रन्थका नाम प्रकाश करनेसे पाठकवृन्द उनको मति-च्छन्न बतलावेंगे ऐसा स्थिर करके ही उन्होंने उक्त ग्रन्थ का नाम गोपन रखकर उसे मध्वकृत 'बृहदारण्यक-भाष्य, ३रा अध्याय, पाँचवे ब्राह्मणसे उद्धृत प्रमाण बतलाया है। हमारा कथन यह है कि यह शठता-

मूलक प्रमाणके रूपमें लिया गया है। मध्वभाष्यके उक्त अध्यायके पंचम ब्राह्मणमें विद्याविनोद महाशय द्वारा कथित उक्त वाक्यका कोई उल्लेख तक नहीं है। परन्तु बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी टीकाके तात्पर्यके अनुकूल मध्व द्वारा उद्धृत कतिपय श्लोक दीख पड़ते हैं—

श्रीर्भूर्दुर्गाम्भ्रणी ह्रीश्च महालक्ष्मीश्च दक्षिणा।
सीता-जयन्ती-सत्या च रुक्मिणीत्यादि-भेदिता॥
प्रकृतिस्तेन चाविष्टा तद्वशा न हरिः स्वयम्।
ततोऽनन्तांशहीना च बलज्ञप्ति-सुखादिभिः॥
गुणैः सर्वैस्तथाप्यस्य प्रसादाद्दोष-वर्जिता।
सर्वदा सुख-रूपा च सर्वदा ज्ञान-रूपिणी॥
—(बृहदा० भाष्य तृतीय प. २ म ब्राह्मण)

अर्थात् श्री, भू, दुर्गा, अम्भ्रणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयन्ती, सत्या एवं रुक्मिणी इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ श्रीहरि द्वारा आविष्टा और उनकी वशीभूता हैं; हरि उनके वशीभूत नहीं हैं। ज्ञान, बल, एवं सुख आदि समस्त विषयोंमें वे प्रकृतियाँ श्रीहरिसे अनन्तगुनित हीना हैं। तथापि वे भगवान्‌की कृपासे सर्वदोष वर्जिता, सर्वदा सुखमय और ज्ञानरूपिणी होती हैं।

यहाँ विचारणीय यह है कि 'प्रकृतिस्तेन चाविष्टा तद्वशा न हरिः स्वयं'—इस वाक्यसे श्री, महालक्ष्मी, सीता आदिको श्रीहरिकी अधीना कहा गया है अर्थात् श्रीहरि ईश हैं; लक्ष्मी आदि वश्या हैं। केवल यही नहीं, ये समस्त प्रकृतियाँ श्रीहरिसे अनन्त अंशोंमें हीना हैं। श्रीबलदेव प्रभुने श्रीमध्व-प्रदर्शित प्रमाणों के आधार पर ही—'श्रीलक्ष्मीजी जीवकोटिमें हैं'—इसे श्रीमध्वके मत-विशेषके रूपमें वर्णन किया है। इसमें विद्याविनोद महाशयके कटाक्ष करनेका कोई कारण या युक्ति नहीं दीखती। मध्वाचार्यका ऐसा मत नहीं है, बल्कि बलदेव प्रभुकी यह मन-गढ़ी उक्ति-विशेष है—यह बात बृहदारण्यकके उक्त भाष्य से प्रमाणित नहीं होती। यह बात ठीक है कि उन्होंने वेदान्तके अनुव्याख्यानमें भागवतके २।६।१७ श्लोक द्वारा बड़े गौरवके साथ श्रीलक्ष्मीदेवीको ब्रह्मा आदि देवताओंसे सब प्रकारसे श्रेष्ठ बतलाया है, परन्तु बृहदारण्यक-भाष्यमें हम इसके ठीक विपरीत उक्ति ही देख पाते हैं। उन्होंने किस उद्देश्यसे बृहदारण्यक का उक्त प्रमाण उद्धृत किया है, यहाँ पर हमारा यह आलोच्य विषय नहीं है। परन्तु आचार्योंके चरित्रमें हम यह देख पाते हैं कि,—'एक लीलाय करे न प्रभु कार्य पाँच-सात' (क)। जैसा भी हो, इसी वाक्यके ऊपर कटाक्ष करके ही बलदेव प्रभुने मध्वमत 'वेदान्त-स्यमन्तक' का खण्डन किया है। उसमें उन्होंने परब्रह्मकी सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—तीन प्रकारकी शक्तियोंका वर्णन करके श्रीलक्ष्मीदेवी को परब्रह्मकी पराशक्तिकी ह्लादिनीकी प्रधाना वृत्ति बतलाकर उनका (लक्ष्मीजीका) जीव-कोटित्व खण्डन किया है।

अब विचारणीय यह है कि ऐसा मतभेद विद्यमान रहने पर भी श्रीमन् महाप्रभुने माध्व-सम्प्रदायको ग्रहण क्यों किया?—विद्याविनोद महाशयका यही प्रश्न है। उन्होंने लिखा है—

'ऐसा मतवाद-विशेष विद्यमान रहने पर भी श्रीकृष्ण चैतन्यदेवने माध्व-सम्प्रदायको स्वीकार क्यों किया?—श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी लेखनी में इस प्रश्नका कोई कारण नहीं पाया जाता।'

—(अचिन्त्यभेदाभेदवाद, पृष्ठ १४३-१४४)

हम इस प्रसंगमें इस 'अचिन्त्यभेदाभेद' लेखके 'केवल मतभेद ही सम्प्रदाय-भेदका कारण नहीं' (ख)—इस शीर्षकमें प्रकाशित विषयको पाठ करनेके लिये पाठकोंसे अनुरोध करूँगा। हमने उसमें स्पष्टतः प्रमाणित कर दिया है कि—केवल मतभेद ही सम्प्रदाय-भेदका कारण नहीं है। यदि साधारण-साधारण मत-भेद ही सम्प्रदाय भेदके कारण होते, तो द्वादश

(क) श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्यलीला, ३ परिच्छेद, पयार १६६, से—गौड़ीयमठसे प्रकाशित ४र्थ संस्करण।
(ख) श्रीभागवत पत्रिका, वर्ष ४, संख्या २-३में देखिए।

प्रकारके रसोंके सेवकवृन्द भी पृथक्-पृथक् द्वादश सम्प्रदायोंमें विभक्त माने जाते। हमने उक्त विषय की समालोचनामें यह दिखलाया है कि—मुरारीगुप्त, श्रीवास पण्डित आदि भगवद्भक्तजन, श्रीमन्महाप्रभु के प्रचार्य विषय—माधुर्यरससे मतभेद रखकर भी गौड़ीय वैष्णव माने गये हैं। विद्याविनोद महाशय इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। यहाँ तक कि एक ही सम्प्रदायके विभिन्न आचार्योंमें भी परस्पर वैशिष्ट्य लक्ष्य किया जाता है। इन वैशिष्ट्योंको मतभेदके रूपमें ग्रहण करनेसे विचार-वैशिष्ट्यकी चमत्कारिता को हेय मानना पड़ता है।

इस सम्बन्धमें सहजियाकुल-चूड़ामणि माननीय श्रीयुत राधागोविन्दनाथ महाशयकी दो एक बातोंका यहाँ उल्लेख कर देना विशेष आवश्यक समझता हूँ। क्योंकि इन्होंने १६०० पृष्ठोंका दो खण्डोंमें एक विराट् ग्रन्थ लिखा है, जिसमें श्रीमन्महाप्रभुके गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके सम्बन्धमें दूसरे-दूसरे दार्शनिकों के साथ तुलनात्मक विचार-वैशिष्ट दिखलानेकी चेष्टाकी गयी है। इन्होंने भी उक्त पुस्तकमें सुन्दरानन्द विद्याविनोद महाशयका पदाङ्कानुसरण कर, उनके सुरमें सुर मिला कर एवं उनके रचित 'अचिन्त्य-भेदाभेदवाद' ग्रन्थका प्रमाण उद्धार कर कहा है कि, गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय' एक पृथक् सम्प्रदाय है, यह माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भूत नहीं है। श्रीयुत नाथ महाशयने अपने 'गौड़ीय वैष्णव-दर्शन' ग्रन्थके प्रथम खण्डकी भूमिकाके ४०वें अनुच्छेदमें सम्प्रदाय-भेद का कारण निरूपण करते हुए कुछ बातें लिखी हैं। वे जो कुछ भी क्यों न लिखें, वह सुन्दरानन्दके 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' ग्रन्थकी या तो प्रतिध्वनि है और नहीं तो नकल है। अतएव हमारा यह लेख राधागोविन्द नाथ महाशयके अत्यन्त परिश्रमलब्ध 'गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन' नामक विराट् ग्रन्थका भी प्रतिवाद स्वरूप है।

जैसे हमने पहले ही प्रमाणित कर दिया है कि—'केवल मतभेद ही सम्प्रदाय-भेदका कारण नहीं है,' ठीक इसके विपरीत श्रीयुत नाथ महाशयका कथन यह है कि—'मत या भावकी समतासे ही सम्प्रदायका एकत्व सिद्ध नहीं होता।' उन्होंने और भी कहा है—"उपास्य, उपासना और उपासनाके फलस्वरूप प्रयोजन तत्त्वका एकत्व होने पर भी साम्प्रदायिक एकत्व सिद्ध नहीं होता। यद्यपि मध्वके साथ गौड़ीय-वैष्णवोंका उपास्य भेद, उपासना भेद और उनके लक्ष्य-विषयका भेद वर्तमान है, तथापि दोनोंके बीच उक्त तीनों तत्त्वोंकी समानता स्वीकार कर लिये जाने पर भी उन दोनोंको एक सम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता है। श्रीयुत नाथ महाशयने श्रीपाद शंकराचार्यके विचारोंसे गौड़ीय-वैष्णवोंका वैशिष्ट्य प्रदर्शन करते समय इन कथनोंकी अवतारणा की है और सम्प्रदाय भेदका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—'माध्व-सम्प्रदाय-के मतानुसार ईश्वर सेव्य हैं और जीव उनका सेवक है। गौड़ीय सम्प्रदायकी भी यही मान्यता है। किन्तु केवल सेव्य और सेवक भावकी समानता देखकर ही गौड़ीय सम्प्रदायको माध्व-सम्प्रदायकी शाखा मान लेना सुसंगत नहीं है। क्योंकि रामानुज-निम्बार्क आदि सम्प्रदायोंमें भी सेव्य और सेवक भाव हैं। भावकी समता ही यदि सम्प्रदायके एकत्वका कारण होता, तो उल्लिखित सम्प्रदायोंको एक सम्प्रदाय कहा जाता; परन्तु ऐसा नहीं है।' *

परन्तु उपरोक्त कथन सत्य नहीं है। जिन-जिन सम्प्रदायोंमें ईश्वर और जीवमें परस्पर सेव्य और सेवक-का सम्बन्ध नित्य माना गया है, वे समस्त सम्प्रदाय एक वैष्णव-सम्प्रदायके अन्तर्भूत गण्य हैं। और जिन सब दार्शनिक क्षेत्रोंमें जीव और ईश्वरका परस्पर सेवक-सेव्य सम्बन्ध अस्वीकार करके उनमें ऐक्य स्वीकार किया गया है, उन्हें अवैष्णव या अद्वैतवादी कहा गया है। उक्त दोनों मतोंमेंसे मध्वाचार्य, रामानुज, निम्बार्क, गौड़ीय गोस्वामीवृन्द आदि आचार्य-

* बंगाब्द १३६३ साल, चैत्र २, को प्रकाशित 'गौड़ीय-वैष्णव दर्शन', (खंड १, भूमिका, ४० अनुच्छेद, पृष्ठ भू०—१८०)

वर्ग सेव्य-सेवक भावका स्थापन कर वैष्णव श्रेणी भुक्त हैं और जीव ईश्वरमें ऐक्य स्वीकार कर शङ्कर आदि आचार्यवर्ग अद्वैतवादी अवैष्णव हैं। शङ्कर-सम्प्रदाय और वैष्णव-सम्प्रदायमें यही भेद है। अद्वैतवादियोंमें भी मत-वैशिष्ट्यके कारण जैसे शङ्कर, बौद्ध, जैन, हीनयान और महायान आदि जैसे पृथक-पृथक सम्प्रदाय हो गये हैं, उसी प्रकार सेव्य-सेवक भावको स्वीकार करने पर भी वैष्णवोंके बीच नाना प्रकारके विचार-वैशिष्ट्य द्वारा सम्प्रदायिक भेद स्थापित हुए हैं। अत्यन्त प्राचीन कालसे ही देवता और असुर नामक दो सम्प्रदाय चले आ रहे हैं—

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।'

—(गीता १६।६, और पद्मपुराण)

अर्थात् इस जगत्में दैव और असुर दो श्रेणी के लोग विद्यमान हैं; उनमें—

'विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः।'

(पद्मपुराण)

अर्थात् विष्णुभक्त वैष्णव देवश्रेणीमें और उनके अतिरिक्त और सभी असुर श्रेणीभुक्त हैं। अतः देखा जाता है कि प्रागैतिहासिक युगसे लेकर आज तक दो सम्प्रदाय चले आ रहे हैं—गीता और पद्मपुराण इस बातकी साक्षी हैं। प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय भेद या द्वैतवादके आधार पर प्रतिष्ठित है। और इसके प्रतिकूल समस्त आसुरिक सम्प्रदाय अद्वैतवादके आधार पर प्रतिष्ठित हैं। मूलतः एक सम्प्रदाय सगुण सविशेषवादी है और दूसरा निर्गुण निर्विशेषवादी। अर्थात् निर्विशेषवादी सेव्य और सेवकका नित्यभेद स्वीकार नहीं करते, एवं सविशेषवादी उनका नित्यभेद स्वीकार करते हैं। जो स्वीकार करते हैं, वे सभी एक सम्प्रदाय भुक्त हैं और उसी सम्प्रदायका नाम—वैष्णव सम्प्रदाय है। अतएव 'भावकी समता होनेसे ही सम्प्रदायका एकत्व नहीं होता'—नाथ महाशयकी ऐसी उक्ति कदापि युक्ति सङ्गत नहीं है।

गौड़ीयोंके सहित माध्व सम्प्रदायके पार्थक्यका उल्लेख करते हुए नाथ महाशय कहते हैं—'उपास्य आदि विषयोंमें समानता विद्यमान रहने पर भी गौड़ीय सम्प्रदायको माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भूत नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि, रामानुज-सम्प्रदायके उपास्य, उपासना और लक्ष्य माध्व-सम्प्रदायके अनुरूप है। तथापि माध्व-सम्प्रदाय और रामानुज-सम्प्रदाय—ये दोनों एक-दूसरेके अन्तर्भूत नहीं हैं; बल्कि दोनों पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हैं। इन दोनों सम्प्रदायोंमें साध्य-साधन आदि एक समान होने पर भी ब्रह्मके साथ जीव और जगत्के सम्बन्धके विषयमें मतभेद है। ब्रह्मके साथ जीव और जगत्के सम्बन्ध विषयक मतभेदके अनुसार ही सम्प्रदायका भेद होता है, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि साध्य और साधन एक प्रकारके होने पर भी सम्बन्धके विषयमें मतभेद होनेके कारण ये दोनों सम्प्रदाय जैसे पृथक् माने जाते हैं, उसी प्रकार साध्य-साधन आदि विषयोंमें प्रायः एक समान होने पर भी गौड़ीय सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय उल्लिखित सम्बन्धके विषयमें भिन्न-भिन्न मत पोषण करते हैं; इसीलिये ये भी दोनों पृथक् सम्प्रदाय माने गये हैं। ब्रह्मके साथ जीव और जगत्के सम्बन्धके विषयमें माध्व-सम्प्रदायके साथ गौड़ीय-सम्प्रदायकी यदि समानता देखी जाय, तो ऐसी दशामें गौड़ीय-सम्प्रदायको माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भूत मानना समीचीन हो सकता है। परन्तु इस विषयमें इनमें मतभेद देखा जाता है।

हमारा कहना है, ब्रह्मके साथ जीव और जगतके सम्बन्धके विषयमें भी माध्व और गौड़ीय-सम्प्रदायमें कोई भेद नहीं है। परन्तु नाथ महाशयने उल्लिखित सम्बन्धके विषयमें जो विराट मतभेद लक्ष्य किया है, उसे उन्होंने प्रकांड-प्रकांड युक्तियों द्वारा अपनी १६०० पृष्ठकी विराट पुस्तकमें केवल डेढ़ पंक्तियोंमें ही व्यक्त किया है—

'माध्व-सम्प्रदाय भेदवादी है; और गौड़ीय-सम्प्रदाय 'अचिन्त्यभेदाभेद-वादी' है। दोनों सम्प्रदायों में इस विषयमें विराट मतभेद है।'

(गौड़ीय वैष्णव दर्शन भू० १८१ पृ०) (क्रमशः)

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव

श्रीचैतन्य महाप्रभु

[गताङ्कसे आगे]

छन्द—देखा स्वप्न सुचारु नाथ शचि ने राका मनोभावनी ।
गोपा रूप निमाइ बाल प्रतिभा थी मानसोन्मादिनी ॥
जोरें हस्त समस्त देव दिशिपा छायापती सोम थे ।
गाते थे कमनीय गीत गुनके फूले सभी रोम थे ॥१७॥
शोभाखानि अमूल्य हीरकनि सी छाई मनोदामिनी ।
लाजें हेर कपोत केकि करणी माते मृगों के पती ॥
थी लक्ष्मी लावण्यमूर्ति रमणी राकेन्दुपूर्णानना ।
ज्ञाता थी आचार्य वल्लभ सुता द्वीपे सुहाई रही ॥१८॥
जाती थीं दिन एक पाथ पथ में गङ्गा किनारे मिली ।
बोले वे हँस हेर चोरि चित को का नाम काकी लली ॥
दे दीनो निज नाम साथ मन को, भोली किशोरी रही ।
मोहे वे इक दूसरे मगन हो बाला निमाई चही ॥१९॥
पा दैवात् सन्देश देवि शचि ने कीना न अङ्गीकृता ।
पाकें मार्ग विचार मग्न सुत को बीती कही चारे ने ॥
दीना धीरज धीर भाव बन के, आये छली वेश में ।
माता के चरणारविन्द गहिके बोले निमाई लला ॥२०॥

दोहा—हे माता गुनखान अति, लक्ष्मी शरि सी बाल ।
आज मिली मग जात ही, बोली वचन रसाल ॥२१॥

छन्द—हे माता सब ज्ञात रीति तुमको बोली रुखाई सनी ।
पाते हैं अति क्लेश मान्य द्विज वे नीकी उसीकी सुता ॥
माता जान विचार चारु सुतका, लक्ष्मी दिलादी उसे ।
गोधूली शुभ लग्न में विरच के कीया विवाहोत्सवा ॥२२॥
फूले देख किशोर बाल वधुको आबाल वृद्धा जना ।
गाती थीं कल गान कोकिल सुरा, देवांगना नाचती ॥
फैली लाज अटूट राज पथ में, बाजे दमामे पुरी ।
बैठी बाल गवाक्ष बीच घनसे झाँके अनेकों शशी ॥२३॥
दोनों राजत राजद्वीप नव में मानो रती काम थे ।
या वे गोकुल नाथ सिन्धु तनया सीता सती राम थे ॥
या मानो शचिनाथ साथ शचि के गौरी गिरी नाथ थे ।
प्रेमी थे प्रिय पाथ जात अलि से तारा कलानाथ थे ॥२४॥

दोहा—ऐसे ही बसते पुरी, विश्वम्भर तिय साथ ।
क्षीरसिन्धु में रहे ज्यों, लक्ष्मी लक्ष्मी नाथ ॥२५॥ (क्रमशः)

—श्रीशङ्करलाल चतुर्वेदी, एम० ए०, साहित्यरत्न

जैव-धर्म

अठारहवां अध्याय

[गतांक से आगे]

प्रमेयके अन्तर्गत भेदाभेद-विचार

वेणीमाधव बड़ा ही दुष्ट व्यक्ति था। उसने सोचा—ब्रजनाथने मेरा तिरस्कार किया है; अच्छी बात है, मैं ब्रजनाथको और साथ ही बाबाजी दलको भी इसका मजा चखाऊँगा। वह कुछ दुष्ट लोगोंसे मिलकर ब्रजनाथको अच्छी तरहसे पीटनेके लिये षड्-यंत्र रचा। तय हुआ, जब ब्रजनाथ रातमें मायापुरसे लौटें- तब रास्तेमें लक्ष्मणटीलेके पास निर्जन स्थान में उनको बुरी तरहसे पीटा जाय। ब्रजनाथको भी किसी प्रकार इस बातकी भनक लग गयी। उन्होंने बाबाजीके साथ परामर्श कर स्थिर किया कि वे प्रति-दिन मायापुर नहीं आवेंगे और जिस दिन आवेंगे, दिनमें ही आवेंगे तथा साथमें एक मजबूत आदमी भी रखेंगे।

ब्रजनाथकी कुछ प्रजाएँ थी। उनमें हरीश डोम एक पक्का लठैत था। एक दिन ब्रजनाथने हरीशको बुलाकर कहा—'हरीश! आजकल मैं कुछ विपद्में पड़ गया हूँ। यदि तुम मेरी कुछ सहायता करो, तो मेरी रक्षा हो सकती है।'

हरीशने कहा—'ठाकुर! मैं तुम्हारे लिये प्राण दे सकता हूँ। यदि आज्ञा पाऊँ तो तुम्हारे शत्रुको अभी मार डालूँ।'

ब्रजनाथने कहा—'वेणीमाधव बड़ा दुष्ट है। वह मेरा अनिष्ट करना चाहता है। मैं उसके उत्पातसे श्रीवास अङ्गनमें वैष्णवोंके निकट जानेका साहस नहीं कर पाता। उसने मुझे रास्तेमें मारनेके लिये कुछ दुष्ट लोगोंसे मिलकर युक्ति की है।'

हरीश बोला—'ठाकुर! हरीशके जिन्दा रहते तुमको कोई परवा नहीं। मालूम पड़ता है, मेरी यह लाठी वेणीमाधव ठाकुरके सिर पर पड़कर ही रहेगी। जैसा भी हो, जब तुम श्रीवास अङ्गनमें जाना, तब मुझे अपने साथ रखना, फिर देखूँगा, कौन बेटा क्या करता है। मैं अकेले ही सौ को देखूँगा।

हरीश डोमके साथ इस प्रकार परामर्श कर ब्रजनाथ दो-चार दिनोंके अंतर पर श्रीवास अङ्गन जाने लगे। परन्तु वहाँ अधिक देर तक ठहर नहीं पाते। तत्त्व सम्बन्धी चर्चा न होनेके कारण मन ही मन बड़े दुःखी रहते हैं। इसी प्रकार १०-२० दिन बीतते-न-बीतते ही दुष्ट वेणीमाधवको सर्पने डस लिया और उसकी मृत्यु हो गयी। वेणीमाधवके मरने-की खबर सुनकर ब्रजनाथने मन-ही-मन सोचा,—'क्या वैष्णव-विद्वेषके कारण ही उसकी यह गति हुई? पुनः सोचा—'अद्यवाब्द शतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः' (भा० १०।१।३८) (क) परमायु समाप्त हो गयी, मर गया। अब मेरे श्रीवास अंगन आने-जानेका कण्टक दूर हुआ।

ब्रजनाथ उसी दिन संध्याके पश्चात् श्रीवास-अङ्गनमें पहुँचे और बाबाजी महाशयको प्रणाम कर बोले—'आज से मैं पुनः प्रति दिन आपके चरणोंमें उपस्थित हो सकूँगा। बाधा-स्वरूप वेणीमाधव आज इस संसारको छोड़कर चला गया है।'

परम कारुणिक बाबाजी महाशय अनुदित-विवेक-जीवकी मृत्युकी खबरसे पहले बड़े दुःखित हुए। तदनन्तर कुछ स्थिर होकर बोले—'स्व कर्म-फलभुक्

(क) आज हो या सौ वर्ष पीछे ही हो, प्राणियोंकी अवश्य ही मृत्यु होगी; यह ध्रुव सत्य है।

पुमान्';—पुरुष अपने कर्मोंका फल भोग करते हैं। जीव कृष्णका है, कृष्ण उसे जहाँ भेजेंगे वह वहीं जायगा। बाबा! तुम्हें और कोई कष्ट तो नहीं है?'

ब्रजनाथ—'मुझे तो केवल यही कष्ट है कि मैं कई दिनों तक आपके उपदेशामृतसे वंचित रहा। आज पुनः श्रीदशमूलके बचे हुए उपदेशोंको सुनना चाहता हूँ।'

बाबाजी—'मैं तुम्हारे लिये सर्वदा प्रस्तुत हूँ; तुमने कहाँ तक सुना था और उसे सुनकर तुम्हारे हृदयमें क्या प्रश्न उठा है, बोलो।'

ब्रजनाथ—'श्रीश्रीगौरकिशोरने जगतको जो अमूल्य शिक्षा दी है, उस शुद्ध मतका नाम क्या है? अद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद—इन सब मतोंकी हमारे पूर्व-पूर्व आचार्योंने स्थापना की है। श्रीगौराङ्गदेवने क्या इन्हीं मतोंमेंसे किसी एकको ग्रहण किया है अथवा कोई पृथक् मत चलाया है? आपने सम्प्रदाय-प्रणाली-के प्रसङ्गमें कहा है कि श्रीगौराङ्गदेव ब्रह्म-सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। यदि ऐसी बात है तो उनको मध्वाचार्य द्वारा प्रकाशित द्वैतवादका आचार्य माना जाय या और कुछ?'

बाबाजी—'बाबा! तुम श्रीदशमूलका आठवाँ श्लोक सुनो—

हरेः शक्तेः सर्वं चिदचिदखिलं स्यात् परिणतिः
विवर्तो नो सत्यं श्रुति मिति विरुद्धं कलि-मलम्।
हरेर्भेदाभेदौ श्रुति-विहित-तत्त्वं सुविमलं
ततः प्रेम्नः सिद्धिर्भवति निरतं नित्य विषये॥
(८वाँ दशमूल)

अर्थात्—चिद्-अचित् समस्त जगत् कृष्णकी शक्तिकी परिणति है। विवर्तवाद सत्य नहीं है, बल्कि वह कलिकालका मल और वेद-विरुद्ध मत है। अचिन्त्यभेदाभेद तत्त्व ही वेद-सम्मत विशुद्ध मत है। अचिन्त्यभेदाभेद तत्त्वसे ही नित्य तत्त्वके प्रति प्रेम-सिद्धि होती है।

उपनिषद्की वाणियोंको 'वेदान्त' कहते हैं। वेदान्तका यथार्थ अर्थ प्रकाशित करनेके लिये व्यास-देवने विषयोंका विभागपूर्वक चार-अध्यायोंसे युक्त 'ब्रह्मसूत्र' के नामसे जिन सूत्रोंकी रचना की है, उन्हीं-को 'वेदान्त-सूत्र' भी कहते हैं। विद्वन्मण्डलीमें वेदान्त सूत्रोंका बड़ा आदर है। साधारण रूपमें सिद्धान्त यह है कि वेदान्त सूत्रोंमें जो कुछ कहा गया है, वही वेदोंका यथार्थ अर्थ है। प्रत्येक मतके आचार्यगण वेदान्त-सूत्रसे अपना-अपना मत-पोषक सिद्धान्त बाहर करते हैं।'

श्रीशङ्कराचार्यने इन सूत्रोंसे 'विवर्तवाद' का उप-देश दिया है। वे कहते हैं,—ब्रह्मकी परिणति स्वीकार करनेसे ब्रह्मका ब्रह्मत्व नहीं रहता। इसलिये परिणाम-वाद अच्छा नहीं है—विवर्तवाद ही युक्तिसंगत सुन्दर मत है। विवर्तवादका दूसरा नाम 'मायावाद' है। उन्होंने वेद-मन्त्रोंका आवश्यकतानुसार संग्रह कर विवर्तवादकी पुष्टि की है। इससे प्रतीत होता है कि परिणामवाद पूर्वकालसे ही प्रचलित है। श्रीशङ्करने विवर्तवाद स्थापन कर परिणामवादकी गतिको रोक दिया था। विवर्तवाद एक मतवाद है।

श्रीमन्मध्वाचार्य विवर्तवादसे सन्तुष्ट न हो सके। उन्होंने द्वैतवादकी सृष्टि की। इन्होंने भी अपने प्रयो-जनके वेद-मंत्रोंका संग्रह कर उनसे द्वैतवादका प्रति-पादन किया है। उसी प्रकार श्रीमद्रामानुजाचार्यने 'विशिष्टाद्वैतवाद' का, श्रीनिम्बादित्याचार्यने द्वैताद्वैत-वादका और श्रीविष्णु स्वामीने शुद्धाद्वैतवादका प्रचार किया है। श्रीशङ्कराचार्यका मायावाद भक्ति तत्त्वके प्रतिकूल है। चारों वैष्णव आचार्योंने पृथक्-पृथक् मतका प्रचार करके भी अपने-अपने सिद्धान्तको भक्तिमूलक बनाया है। श्रीमन्महाप्रभुजीने समस्त श्रुति-वाणियोंको आदरपूर्वक ग्रहण कर उनसे जैसा सिद्ध होता है, वैसा ही उपदेश दिया है। महाप्रभुके प्रचारित उपदेश अर्थात् सिद्धान्तका नाम 'अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व' है। श्रीमन्महाप्रभुजी श्रीमन्मध्वाचार्य-के सम्प्रदायके अन्तर्भूत होकर भी उनके मतका सार मात्र ग्रहण किया है।'

ब्रजनाथ—'परिणामवाद किसे कहते हैं?'

व बाजी—'परिणामवाद दो प्रकारका होता है—'ब्रह्म-परिणामवाद और तत्-'शक्ति-परिणामवाद'। ब्रह्म-परिणामवादकी शिक्षा यह है कि—अचिन्त्य और निर्विशेष ब्रह्म परिणत होकर एक अंशसे जीव और दूसरे अंशसे जड़ जगत् हुए हैं। इस मतके अनुसार 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा०६।२।१) (क) श्रुति मंत्रके द्वारा ब्रह्मनामक केवल एक वस्तु स्वीकृत है; इस मतको भी 'अद्वैतवाद' कहा जा सकता है। देखो, विकारको ही परिणाम कहा गया है।

शक्ति-परिणामवादी कहते हैं—ब्रह्मका विकार कदापि संभव नहीं है; बल्कि ब्रह्मकी अचिन्त्य शक्ति परिणत होकर जीव-शक्ति-अंशसे जीव-समूह और मायाशक्ति-अंशसे जड़ जगत्के रूपमें प्रकाशित है। ऐसा माननेसे परिणामवादमें भी ब्रह्म विकृत नहीं होते।

सतत्त्वतोऽन्यथा-बुद्धिर्विकार इत्युदाहृतः। (ख)
(सदानन्द-कृत 'वेदान्तसार' संख्या-४६)

विकार क्या है? यह सत्य तत्त्वसे एक अन्यथा-बुद्धिमात्र है। दूध दधिके रूपमें विकृत होता है। दधिमें दूध-रूपकत्व है। दूध विकृत होनेपर अर्थात् जमने पर उस विकृत अर्थात् जमी हुई वस्तुको दूध नहीं,—दधि कहा जाता है; इस अन्यथा अर्थात् दूसरी बुद्धिको उसका 'विकार' कहते हैं। ब्रह्म-परिणामवादमें जगत् और जीव ब्रह्मके विकार हैं। यह विचार अत्यन्त अशुद्ध है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं। निर्विशेष-ब्रह्म ही केवल एक मात्र वस्तु है, उसके अतिरिक्त जब कोई भी दूसरी वस्तु स्वीकृत नहीं, तब उसका 'विकार' यह दूसरी वस्तु कहाँ से आ गयी? अतः ब्रह्ममें विकारका कोई स्थल नहीं दिख पड़ता। उनको विकारी माननेसे वस्तु सिद्धि नहीं होती। इसलिये ब्रह्म परिणामवाद किसी भी हालत में युक्ति संगत नहीं है। 'शक्ति-परिणामवादमें' इस प्रकारका कोई दोष स्पर्श नहीं करता। ब्रह्म अविकृत ही रहते हैं, उनकी अघटन-घटन-पटीयसी शक्ति कहीं पर अणु अंशसे जीवरूपमें परिणत हुई है और कहीं छाया अंशसे जड़ ब्रह्माण्डके रूपमें परिणत हुई है। ब्रह्मकी इच्छा हुई कि 'जीव-जगत् हो और चट उनकी पराशक्तिगत जीवशक्तिने अनन्त जीवोंको प्रकट कर दिया। ब्रह्मकी इच्छा हुई—जड़ जगत् हो और उसी समय पराशक्तिकी छायारूप—मायाशक्तिने असीम जड़ जगत्को प्रकट कर दिया। इसमें ब्रह्म स्वयं विकृत नहीं होते। यदि कहो—इच्छाका होना ही उनका विकार है और यह विकार ब्रह्ममें कैसे रहता है? इसका उत्तर यह है,—तुम जीवकी इच्छाको लक्ष्यकर ब्रह्मकी इच्छाको भी विकार बतला रहे हो; जीव क्षुद्र है, उसकी जो इच्छा होती है, वह दूसरी शक्तिके संस्पर्शसे पैदा होती है; इसलिये जीवकी इच्छा 'विकार' है। परन्तु ब्रह्मकी इच्छा वैसी नहीं है। ब्रह्मकी निरंकुश इच्छा ही ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है—वह ब्रह्मकी शक्तिसे अपृथक होकर भी पृथक है। इसलिये ब्रह्मकी इच्छा ही ब्रह्मका स्वरूप है, उसमें विकारका स्थल नहीं है एवं उसकी परिणति भी नहीं है; इच्छा होनेके साथ-साथ शक्ति क्रियावती हो पड़ती है। परिणाम शक्तिका ही होता है। यह सूक्ष्म विवेचन या विभाग जीवकी क्षुद्र बुद्धिसे परे है—केवल वेद-प्रमाणके द्वारा ही जाना जाता है।

अब शक्तिका परिणाम कैसा होता है? यही विवे-

(क) इस विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक, अद्वितीय और सत्य वस्तु मात्र थे।

(ख) किसी एक सत्य-तत्त्वसे कोई दूसरा तत्त्व उत्पन्न होने पर उत्पन्न वस्तुमें जो अन्य वस्तु होनेकी बुद्धि होती है, उसे विकार अर्थात् परिणाम कहते हैं। — जैसे ब्रह्म एक सत्यवस्तु है, उससे जीवरूप एक सत्यवस्तु तथा मायिक ब्रह्माण्ड रूप एक और सत्यवस्तु पृथकरूपसे उत्पन्न हुई है—ऐसी बुद्धिको विकार या परिणाम कहते हैं।—(अमृतप्रवाह भाष्य)।

चनीय है। दूध जैसे दधि हुआ है, शक्ति परिणामवाद-का एकमात्र यही परिचय अर्थात् उपमा स्थल नहीं है। यद्यपि प्राकृत वस्तुओंसे अप्राकृत तत्त्वका उदाहरण सम्पूर्णरूपसे ठीक नहीं बैठता है, तथापि प्राकृत उदाहरण अप्राकृत तत्त्वके किसी एक अंशको स्पष्ट कर सकता है। ऐसा कहा गया है,—'प्राकृत चिन्तामणि नानाप्रकारके रत्नोंकी ढेरी प्रसव करके भी अविकृत रहती है'* अप्राकृत-तत्त्वके सृष्टि-व्यापारको उसी प्रकार समझना चाहिए। परमेश्वर अपनी अचिन्त्य-शक्ति द्वारा इच्छा होते ही अनन्त जीवमय जैव-जगत् एवं चौदह लोकोंके अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्डकी रचना करके भी सम्पूर्णरूपसे विकारशून्य रहते हैं। 'विकार-शून्य'-शब्द द्वारा कोई ऐसा न समझ ले कि तत्त्व-वस्तु निर्विशेष हैं, बल्कि बृहद्वस्तु ब्रह्म सर्वदा षडैश्वर्यपूर्ण भगवत् स्वरूप हैं; केवल मात्र निर्विशेष कहनेसे उनकी चिच्छक्ति स्वीकृत नहीं होती। परतत्त्व अपनी अचिन्त्य-शक्ति द्वारा नित्य सविशेष और निर्विशेष दोनों हैं; केवल निर्विशेष माननेसे उनका अर्द्ध स्वरूप ही मानना होता है और इससे पूर्णताकी हानि होती है। परतत्त्वमें 'अपादान', 'करण', और 'अधि-करण' रूप तीन कारकत्व—श्रुतियोंने वर्णन किये हैं—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्-प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।'

अर्थात् 'ये सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं',—इस वाक्यसे ईश्वरका अपादान-कारकत्व सिद्ध होता है; 'उत्पन्न होकर जिनसे ये सब जीवित हैं'—इस वाक्यसे उनका करण कारकत्व लक्षित होता है; 'जिनमें गमन और प्रवेश करते हैं'—इस वाक्यसे ईश्वरका अधिकरण कारकत्व सिद्ध होता है। इन तीन लक्षणों-से परतत्त्व विशिष्ट हैं—यही उनका विशेष है। इस-लिये भगवान् सर्वदा सविशेष हैं; (जिनका विषय जिज्ञासा करते हो—वे ही ब्रह्म हैं।) श्री जीव गोस्वामी भगवत्तत्त्वका विवेचन करते हुए लिखते हैं—

'एकमेव परमं तत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्य-शक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूप-वैभव-जीव-प्रधानरूपेण, चतुर्द्धाविशिष्यते, सूर्यान्तर-मण्डललक्षित तेज इव मण्डल तद्बहिर्गत तद्रश्मि-तत्प्रतिच्छवि-रूपेण।

अर्थात् परम तत्त्व एक हैं। वे स्वाभाविक अचि-न्त्यशक्तिसम्पन्न हैं; उसी शक्तिके सहारे वे सर्वदा स्वरूप, तद्रूप-वैभव, जीव और प्रधान इन चार रूपों-में प्रकाशित हैं। इस विषयमें सूर्यमण्डलस्थ तेज, मण्डल, उस मण्डलसे बाहरकी सूर्यरश्मियाँ और उनकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलन—ये किंचित उदाहरणके स्थल हैं।

सच्चिदानन्द-मात्र विग्रह ही उनका स्वरूप है। चिन्मय नाम, धाम, सङ्गी और उनके व्यवहारमें आने-वाले समस्त उपकरण ही स्वरूप-वैभव हैं। नित्यमुक्त, नित्यबद्ध, अनन्त जीव ही अणुचित् आश्रय हैं। एवं मायाप्रधान और उससे उत्पन्न समस्त जड़ीय स्थल और सूक्ष्म जगत् ही 'प्रधान' शब्दवाच्य है। ये चारों प्रकाश जिस प्रकार नित्य हैं, परम तत्त्वका एकत्व भी उसी प्रकार नित्य है। ये दोनों परस्पर नित्य विरुद्ध व्यापार एक ही साथ किस प्रकार संभव है? उत्तर यह है कि—जीवकी बुद्धिसे यह असंभव है; क्योंकि जीवकी बुद्धि ससीम है। परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्ति द्वारा यह असं-भव नहीं है।'

व्रजनाथ—'विवर्त्तवाद' किसे कहते हैं?'

बाबाजी—'वेदोंमें विवर्त्तके सम्बन्धमें उल्लेख पाया जाता है, परन्तु वह विवर्त्तवाद नहीं है। श्रीशंक-

* वस्तुतः परिणामवाद सेइत प्रमाण। देहे आत्मबुद्धि हय विवर्त्तेर स्थान॥
अचिन्त्य शक्तियुक्त श्रीभगवान्। इच्छाय जगत्-रूपे पाय परिणाम॥
तथापि अचिन्त्य शक्त्ये हय अधिकारी। प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हइते। तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥
प्राकृत वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय। ईश्वरेर अचिन्त्य-शक्ति-इथे कि विस्मय॥
(चैतन्यचरितामृत आ० ७।१२३-२७)

राचार्यने 'विवर्त्त', शब्द का जैसा अर्थ किया है, उससे 'विवर्त्तवाद' और 'मायावाद' एक हो गया है। 'विवर्त्त' शब्दका वैज्ञानिक अर्थ इस प्रकार है—

अतत्त्वतोऽन्यथा-बुद्धिर्विवर्त्त इत्युदाहृतः।

(सदानन्द कृत 'वेदान्तसार' ४३ संख्या)

अर्थात् जो वस्तु जो वस्तु नहीं है, उसको वही वस्तु जानना, अर्थात् एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी प्रतीति (भ्रम) होनेका नाम 'विवर्त्त' है। जीव चित्-कण वस्तु है, परन्तु जड़ीय स्थूल और लिंग देहमें आबद्ध होकर भ्रमवशतः स्थूल और लिंग शरीर को ही "मैं" कह कर जो परिचय प्रदान करते हैं, वही तत्त्वज्ञान-शून्य अन्यथा बुद्धि है—यही वेद प्रतिपादित एक मात्र विवर्तका उदाहरण है। जैसे-कोई ऐसा समझते हैं कि मैं 'सनातन पाण्डेयका पुत्र'रमानाथ पाण्डेय हूँ; और कोई ऐसा समझ रहे हैं कि मैं 'हरखुआ' डोमका पुत्र 'मधुआ' डोम हूँ।' ऐसी बुद्धि नितांत भ्रमपूर्ण है। चित्कण जीव न तो रमानाथ पाण्डेय है और मधुआ डोम ही है; फिर भी देहमें आत्म-बुद्धि होनेके कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है। 'रज्जुमें सर्प-भ्रम' और 'शुक्तिमें रजत-भ्रम' ऐसे ही उदाहरण हैं। अतएव इन सब उदाहरणों द्वारा मायिक शरीरमें आत्मबुद्धिरूप विवर्त्त-भ्रमको दूर करनेके लिये वेदोंमें परामर्श है। मायावादी वेदका यथार्थ तात्पर्य त्यागकर एक प्रकारके हास्यास्पद विवर्त्तवादका स्थापन करते हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यही सात्त्विक बुद्धि है, और 'मैं जीव हूँ'—यही अन्यथा बुद्धि या विवर्त्त है—यह मायावादियोंका मत है। वास्तवमें ऐसे विवर्त्तवादसे सत्यका निर्णय नहीं होता। विवर्त्तवाद वास्तवमें शक्ति-परिणामवादका विरोधी नहीं है; परन्तु मायावादियों-का विवर्त्तवाद नितान्त हास्यास्पद है। मायावादियों-का विवर्त्तवाद अनेक प्रकारका है। उनमें ब्रह्मका जीवभ्रमद्वारा जीवत्व, ब्रह्मका प्रतिबिम्बित होकर जीवत्व, और स्वप्नमें ब्रह्मसे पृथक्-पृथक् जीव और जड़-जगत्की ब्रह्मसे अतिरिक्त बुद्धि,—ये तीन प्रकारके विवर्त्तवाद अधिक प्रचलित हैं। ये समस्त विवर्त्त-वाद सत्य नहीं हैं तथा वेद-प्रमाणके विरुद्ध हैं।'

अनन्ताय—'मायावाद क्या चीज है? मैं इसे समझ नहीं पाता।'

बाबाजी—'जरा ध्यान देकर सुनना। मायाशक्ति स्वरूपशक्तिकी छाया मात्र है, चित् जगत्में उनका प्रवेश नहीं है; ये जड़ जगतकी अधिकर्त्री हैं। जीव अविद्याग्रस्त होकर भ्रमसे जड़-जगतमें प्रविष्ट हुआ है। चित् वस्तुकी स्वतंत्र सत्ता और स्वतंत्र शक्ति है, परन्तु मायावाद वस्तुतः इसे मानता नहीं है। मायावादका कथन है—'जीव ही ब्रह्म है—मायाके कारण भेद प्रतीत होता है; जबतक मायाके साथ सम्बन्ध है, तभी तक जीवका जीवत्व है, माया-सम्बन्ध दूर होते ही जीव—ब्रह्म है। मायासे पृथक् होकर चित्कणकी स्थिति नहीं है; अतएव जीवका मोक्ष ही उसका ब्रह्मके साथ निर्वाण है। 'इस प्रकार मायावाद शुद्धजीवकी सत्ता स्वीकार नहीं करता। वे और भी कहते हैं—भगवान् मायाके आश्रित तत्त्व होनेके कारण जब उनको जड़ जगत्में आना होता है, तब उनको मायाका आश्रय लेना पड़ता है। वे एक मायिक-स्वरूप ग्रहण किये बिना संसारमें आविर्भूत नहीं हो सकते; क्योंकि ब्रह्मावस्था-में वे निराकार हैं—उनका कोई विग्रह नहीं है। ईश्व-रावस्थामें उनका मायिक शरीर होता है। अवतारगण मायिक शरीर ग्रहण कर जगत्में अवतीर्ण होते हैं और बड़े-बड़े कार्य करते हैं। अनन्तर मायिक शरीर-को इस जगत्में रखकर स्वधाममें गमन करते हैं'। मायावादी भगवान्के प्रति जरा अनुग्रह प्रकाशपूर्वक जीव और ईश्वरके अवतारमें कुछ भेद स्वीकार करते हैं। वह भेद यह है कि जीव कर्म-परतंत्र होकर स्थूल शरीर धारण करते हैं एवं इच्छाके विरुद्ध भी कर्मके प्रवाहमें जरा, मरण और जन्म प्राप्त होनेके लिये वे बाध्य हैं। परन्तु ईश्वर स्वेच्छासे मायिक शरीर, मायिक उपाधि, मायिक नाम और मायिक गुणोंको ग्रहण करते हैं; और उनकी इच्छा होने पर वे उन

सबका परित्याग कर शुद्धचैतन्य हो सकते हैं; ईश्वर कर्म तो करते हैं, परन्तु कर्मफलके अधीन नहीं होते—यह सब मायावादीका असत् सिद्धान्त है।'

व्रजनाथ—'क्या वेदमें कहीं ऐसे मायावादका उपदेश पाया जाता है ?'

बाबाजी—'नहीं ! वेदमें कहीं भी मायावाद नहीं है। मायावाद बौद्धधर्म है, पद्मपुराणमें लिखा है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्न-बौद्धमुच्यते ।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मण-मूर्त्तिना ॥
(उ० ख० ४३ अध्याय, ६ श्लोक)

(अर्थात) श्रीमहादेव उमादेवीके प्रश्नका उत्तर देते हुए कह रहे हैं—देवि ! मायावाद अत्यन्त असत्-शास्त्र है। यह बौद्धमत है; वैदिक-वाणियोंकी आड़में प्रच्छन्नरूपसे आर्योंके धर्ममें प्रवेश कर गया है। मैं कलिकालमें ब्राह्मण-मूर्त्ति धारण कर इस मायावादका प्रचार करूँगा।'

व्रजनाथ—'प्रभो ! देवदेव महादेव तो वैष्णवोंमें अग्रगण्य हैं, उन्होंने ऐसा बुरा कर्म क्यों किया ?'

बाबाजी—'श्रीमहादेव भगवान्‌के गुणावतार हैं। असुरगण भक्ति पथको ग्रहणकर सकाम भावसे भगवान्‌की उपासना कर अपना-अपना दुष्ट उद्देश्य सफल करनेकी चेष्टा करने लगे। इसे देख कर परम करुणामय भक्तवत्सल भगवान्‌ने सोचा कि असुरगण भक्ति पथको भ्रष्टकर भक्तोंको कष्ट प्रदान कर रहे हैं। इसलिये भक्ति-पथको भ्रष्ट होनेसे बचाना चाहिए। ऐसा सोचकर उन्होंने श्रीश्रीमहादेवको बुलाकर कहा—'हे शंभो ! तामस प्रवृत्तियुक्त असुरोंमें मेरी शुद्ध भक्तिका प्रचार करनेसे जीव-जगतका कल्याण नहीं हो सकता है। इसलिये दैत्योंको मोहित करनेके लिये एक ऐसे शास्त्रका प्रचार करो, जिससे ऐसा मायावाद प्रकाशित हो जो मुझे दैत्योंसे गोपन रखे। आसुर-प्रवृत्तिके लोग भक्ति-पथ त्यागकर मायावाद का आश्रय करनेसे सहृदय भक्तजन बिना बाधा प्राप्त हुए शुद्ध-भक्तिका आस्वादन करेंगे। परम वैष्णव श्रीमहादेवने इस कठिन कार्यका भार ग्रहण करनेमें पहले-पहल दुःख प्रकाश किया, परन्तु भगवान्‌की आज्ञा मानकर मायावादका प्रचार किया। अतएव जगद्गुरु श्रीमन्महादेवका इसमें दोष ही क्या है ? जिन परमेश्वरके कौशलसे सम्पूर्ण जगत्-चक्र सुन्दर रूपसे चल रहा है, जो जगत्‌के सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये अपने हाथमें कौशलरूप सुदर्शन-चक्र धारण किये हुए हैं, उनकी आज्ञामें न जाने कौन-सा कल्याण निहित है, उसे वे ही जानें। अधीन सेवक-वृन्दका एकमात्र कर्त्तव्य तो प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। इसलिये शुद्धवैष्णवजन मायावाद-प्रचारक शिवके अवतार शंकराचार्यका कोई भी दोष नहीं देखते। इस कथनका शास्त्रीय प्रमाण सुनो—

स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु ।
त्वमाराध्य तथा शंभो ग्रहिष्यामि वरं सदा ।
द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु ॥
मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा ॥ (क)
(पद्मपुराण उ० ख० ४२ अ०, १०९–११० श्लोक
और नारदपञ्चरात्र ४ २।२९–३०)

एष मोहं सृजाम्याशु यो जनान् मोहयिष्यति ।
त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोह-शास्त्राणि कारय ॥

(क) विष्णुने कहा—हे शंभो ! स्वयं भगवान् होकर भी मैंने जिस प्रकारसे असुर-मोहन कार्यके लिये दूसरे-दूसरे देवताओंकी आराधना की है, उसी प्रकार तुम्हारी भी आराधना करके सर्वदा वर प्राप्त करूँगा। तुम कलियुगमें मनुष्य आदि जीवोंके बीच अंशरूपमें अवतीर्ण होओ और आगमादि शास्त्रोंसे कल्पित मतका प्रचार कर उससे मानव-समुदायको मुझसे विमुख कर मुझे छिपा दो। उसके द्वारा मेरी लीलापुष्टिके लिये जगतमें उत्तरोत्तर बहिर्मुख-सृष्टि बढ़ती जायगी।

अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व ममाभुज ।
प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु ॥ (क)
(वराह पुराण)

ब्रजनाथ—'मायावादके विरुद्धमें क्या वेद-प्रमाण उपलब्ध हैं ?'

बाबाजी—'अखिल वेदशास्त्र ही मायावादके विरुद्ध प्रमाण हैं । समस्त वेदोंको ढूँढ़ कर मायावादियोंने उनमेंसे चार वाक्योंको अपने पक्षमें बाहर किया है । इन चार वाक्योंको वे महावाक्य कहते हैं । वे चार वेद-वाक्य ये हैं—(१) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) (ख), 'नेह नानास्तिकिञ्चन' (बृ. ४।४।१९, कठ २।१।११) (ग), (२) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५।३) (घ), (३) 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) (ङ), (४) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) (च) ।

पहले महावाक्यमें क्या पाया जाता है ? यह जीव और जड़ात्मक समस्त विश्व ही ब्रह्म है; ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । उस ब्रह्मका परिचय क्या है ? इसे दूसरी जगह कहते हैं—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च ॥
(श्वे० उ० ६।८)

अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माकी कोई भी क्रिया प्राकृत नहीं होती; क्योंकि उनका कोई भी करण—हस्त-पदादि प्राकृत नहीं होता । प्राकृत करणके बिना ही उनकी अप्राकृत लीलाका कार्य होता है । वे अप्राकृत शरीरसे एक ही समय सर्वत्र विराजमान रहते हैं । इसलिये उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी कोई दूसरा नहीं दीखता । उन परमेश्वरकी अलौकिकी शक्ति नानाप्रकारकी सुनी जाती है, जिसमें ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीन प्रधान हैं । इन तीनोंको क्रमशः चित्शक्ति या सम्वित्शक्ति; सत् या सन्धिनी शक्ति और आनन्द या ह्लादिनी शक्ति भी कहते हैं ।

उन ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तिको अभिन्न माना गया है । उस शक्तिको स्वभाविकी शक्ति कहा गया है; उस शक्तिमें विचित्रता है । शक्ति और शक्तिमानको अभिन्न माननेसे ब्रह्मका नानात्व नहीं होता; परन्तु ब्रह्म और शक्तिको पृथक् मानकर जगत्के प्रति दृष्टिपात करनेसे नानात्व सिद्ध होता है ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां—
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् । (छ)
(कठ० ५।१३ और श्वे० ६।१३)

—इस श्रुतिवाक्यमें वस्तुका नानात्व और अनेक नित्य-वस्तु स्वीकार किया गया है । इस प्रकारके वाक्यमें शक्तिको शक्तिमानसे पृथक् कर उनके ज्ञान, बल और उनकी क्रियाका विचार किया गया है ।

(२) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ज)—इस वाक्यमें जिस प्रज्ञानको ब्रह्मके साथ एक कहा गया है, उस 'प्रज्ञा' शब्दका व्यवहार बृहदारण्यक श्रुतिमें प्रेम भक्तिके लिये हुआ

(क) मैंऐसे मोहकी सृष्टि कर रहा हूँ जो जन-समुदायको मोहित करेगा । हे महाबाहो रुद्र ! तुम भी मोह-शास्त्रकी रचना करो । हे महाभुज ! अतथ्यको तथ्य और तथ्यको अतथ्यके रूपमें प्रकाश करो । तुम अपने आत्म-विध्वंसक रुद्ररूपका प्रकाश करो और मेरे नित्य भगवत्स्वरूपको आवृत करो ।

(ख) समस्त जगत् ही ब्रह्म है । (ग) ब्रह्ममें किसी प्रकारका नानात्व नहीं है । (घ) प्रज्ञान ही ब्रह्म है । (ङ) हे श्वेतकेतो ! तुम वही हो । (च) मैं ब्रह्म हूँ ।

(छ) समस्त नित्य वस्तुओंमें परम नित्य हैं अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं, एवं समस्त चेतन वस्तुओंमें वे चैतन्यदाता मूल-चेतन हैं । वे एक होकर भी सबकी कामना पूर्ण करते हैं ।

(ज) प्रज्ञान ही ब्रह्म हैं ।

है—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'—(४।४।२१) (क)

(३) 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) (ख)—इस वाक्यमें जिस ब्रह्म के साथ ऐक्यकी शिक्षा दी गयी है, उसके सम्बन्धमें बृहदारण्यक उपनिषद्में इस प्रकार कहा गया है—

यो व एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्
प्रैति—स कृपणोऽथ । य एतदक्षरं गार्गि
विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति—स ब्राह्मणः ॥ (ग)
(बृ० ३।८।१०)

'तत्त्वमसि'—ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति अन्तमें भगवद्-भक्ति लाभ कर ब्राह्मण होते हैं।

(४) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) (घ)—इस वाक्यमें जिस विद्याकी प्रतिष्ठा है, वह विद्या यदि अन्तमें भक्तिरूपिणी न हो तो ऐसी विद्याको ईशोपनिषद्में हेय बतलाया गया है—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ (ङ)
(ईशोपनिषद् ९म०)

अर्थात् अविद्याकी उपासना करके जो आत्माका चिन्मयत्व नहीं जानते, वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं; जो अविद्याका परित्याग तो करते हैं किन्तु जीवको चित्कण न जानकर ब्रह्म मानते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

बाबा ! वेदशास्त्र अपार हैं । प्रत्येक उपनिषद्के प्रत्येक मंत्रका पृथक्-पृथक् विचार कर पुनः उन सबका समष्टिगत विवेचन करने पर वेदका यथार्थ अर्थ जाना जा सकता है । प्रादेशिक वाक्य लेकर खींचा-तानी करनेसे एक न एक कुमत बाहर होगा ही । इसीलिये श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी ने वेदका सर्वांगीण विवेचन कर जीव और जड़का श्रीहरिसे युगपत् 'भेदाभेदरूप अचिन्त्य-परमतत्त्व' का उपदेश दिया है।'

व्रजनाथ—'अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व वेद-विहित मत है, इसे वेद-प्रमाणके साथ भलीभाँति समझाने-की कृपा करें।'

बाबाजी—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) (च)
'आत्मैवेदं सर्वमिति' (छा० ७।२५।२) (छ)
'सदेव सौम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्'
(छा० ६।२।१) (ज)
एवं स देवो भगवान् वरण्यो
योनि-स्वभावानधितिष्ठत्येकः' (श्वे० ६।४) (झ)

(क) धीर-स्थिर ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परमब्रह्म भगवान्को विशेष रूपसे जान कर उनके प्रति प्रकृत ज्ञान-स्वरूप प्रेम-भक्ति करेंगे ।

(ख) हे श्वेतकेतो ! तुम वही हो ।

(ग) गार्गि ! अक्षर ब्रह्मको (विष्णुको) बिना जाने जो इस जगत्से महा प्रस्थान करते हैं, वे अत्यन्त कृपण या नीच शूद्र हैं; और जो उन अक्षर पुरुषको जानकर इस संसारसे प्रस्थान करते हैं, वे ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण हैं ।

(घ) मैं ब्रह्म हूँ ।

(ङ) जो अविद्यामें स्थित हैं, वे गहन अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं,वे उससे भी अधिक घोरतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

(च) यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है ।

(छ) यह दीख पड़नेवाला सभी कुछ आत्मा है ।

(ज) हे सौम्य ! पहले यह संसार एक अद्वितीय सत्स्वरूपमें वर्तमान था एवं इस विश्व सृष्टिके पूर्व एक, अद्वितीय, सत्-वस्तुमात्र थे ।

(झ) जिस प्रकार यह सूर्य एक जगह स्थित होकर भी समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार समस्त देवताओंके भी परमदेव स्वयं भगवान् समस्त कारणोंके कारण स्वरूप होकर भी निर्विकार स्वभावमें अधिष्ठित हैं एवं वे ही एकमात्र वरणीय और उपास्य हैं ।

—इत्यादि बहुतसे वेद मंत्र हैं, जिनसे अभेदका प्रतिपादन होता है।

पुन—

'ॐ ब्रह्म-विदाप्नोति परम्' (तै०ब्र०२।१) (क)

'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति'
(कठ० १।२।२२) (ख)

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं
गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान्
कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'
(तै० ब्र० २।१ अनु) (ग)

'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न
ज्यायोऽस्ति कश्चित् । ॥ ॥ तेनेदं
पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' (श्वे० ३ ९) (घ)

'प्रधान-क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः' (श्वे० ६।१६) (ङ)

'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' (कठ २।२३) (च)

'तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।१६) (छ)

'यथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्' (ईश० मन्त्र) (ज)

'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति' (के०३।६) (झ)

'असद्वा इदमग्र-असीत् । ततो वै सदजायत ।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति'
(तै० २।७) (ञ)

'नित्यो नित्यानाम्' (कठ० २।१३ और श्वे० ६।१३) (ट)

'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म'
'सोऽयमात्मा चतुष्पात् (मा० उ० २ य) (ठ)

अयं आत्मा सर्वेषां भूतानां मधु' (बृ०२।५।१४) (ड)

(क) ब्रह्मविद् पुरुष परमब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

(ख) धीर और विद्वान् पुरुष आत्माको परिच्छिन्न शरीरमें स्थित देखकर भी उस आत्माको महान् और सर्वव्यापी जानकर तनिक भी शोक नहीं करता।

(ग) ब्रह्म—सत्य, ज्ञान और अनन्त-स्वरूप है। जो उन परव्योमस्थ ब्रह्मको प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें विराजमान जानता है, वह उस अन्तर्यामी सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ समस्त कामनाओंकी सिद्धि लाभ कर लेता है।

(घ) जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, जिससे बढ़ कर कोई भी न तो अधिक सूक्ष्म है और न तो अधिक बृहत् है, जो अकेले ही वृक्षकी भाँति निश्चल होकर ज्योतिर्मय मण्डलमें स्थित हैं, उस एक परमपुरुषमें यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।

(ङ) प्रधानके अधीश्वर, क्षेत्रज्ञके पति, और समस्त गुणोंके ईश्वर अर्थात् त्रिगुणसे असीत हैं।

(च) उनके निकट ही वे परमात्मा अपना शरीर विशेष प्रकारसे प्रकाश करते हैं।

(छ) ब्रह्मविद् पण्डित पुरुष उनको ही आदि अर्थात् सर्व कारणोंका आदि कारणस्वरूप महान् पुरुष जानकर कीर्तन करते हैं।

(ज) उन्होंने स्वयं अचिन्त्य शक्ति द्वारा दूसरे-दूसरे नित्य पदार्थोंको उनके विशेष-विशेष गुणोंके साथ अलग-अलग रखा है।

(झ) अग्निदेव देवताओंसे बोले—मैं तो भली भाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?

(ञ) पहले यह जगत् एकमात्र ब्रह्म-स्वरूपमें अव्यक्त था, वही (अव्यक्त) ब्रह्मासे व्यक्त हुआ है। उन ब्रह्माने अपनेको पुरुष रूपमें प्रकाशित किया इसीलिये उन पुरुष रूपको 'सुकृति' कहा गया है।

(ट) जो समस्त नित्य-वस्तुओंमें परम नित्य अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं।

(ठ) यह सब कुछ अवर ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्मशक्तिसे उत्पन्न तत्त्व है। आत्म-स्वरूप कृष्ण ही परम ब्रह्म हैं। वे ही चारपद वाले अर्थात् एक होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा नित्य चार स्वरूपोंमें महा रसमय हैं।

(ड) श्रीकृष्णको लक्ष्य करके उनके गुणोंके वर्णन द्वारा वेद गौण रूपमें कहते हैं कि कृष्ण ही सम्पूर्ण भूत-समुदायके मधु हैं।

—इत्यादि असंख्य वेद-वाणियोंसे—नित्य-भेद सिद्धि है । वेद शास्त्र सर्वांग सुन्दर हैं । वेदका कोई भी अङ्ग परित्याग नहीं किया जा सकता है । नित्य-भेद सत्य है और नित्य अभेद भी सत्य है—युगपत् उभय तत्त्व ही सत्य होनेके कारण भेद और अभेद उभय-निष्ठ श्रुतियाँ विद्यमान हैं । यह युगपत् भेदाभेद अचिन्त्य है अर्थात् मानव चिन्तासे परे है । इस विषयमें तर्क-वितर्क करनेसे प्रमाद उपस्थित होता है । वेदोंमें जहाँ भी जो कुछ कहा गया है, वह सभी सत्य है—हमारी बुद्धि अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण उसका सम्यक् अर्थ समझनेमें असमर्थ है, इसलिये वेदार्थोंकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए । 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ० १।२।९) (क), 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च' (केन २।२) (ख) ।

इन श्रुति-मंत्रों द्वारा यह स्पष्ट ही कह रहे हैं कि परमेश्वरकी शक्ति अचिन्त्य है, उसमें युक्तिको लगाना नहीं चाहिये । श्रीमहाभारतमें कहते हैं—

पुराणं मानवो धर्मः सांग-वेदः चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ (ग)

अतएव अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्त ही वेद-विहित सुविमल तत्त्व है । जीवोंके चरम-प्रयोजनके दृष्टिकोणसे भी अचिन्त्य-भेदाभेदके अतिरिक्त कोई भी सत्य सिद्धान्त दीख नहीं पड़ता । अचिन्त्य-भेदाभेद स्वीकार करनेसे भेद-प्रतीति नित्य होगी । इस प्रतीति के बिना जीवका चरम प्रयोजन—प्रीति किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती ।'

ब्रजनाथ—'प्रीति ही चरम-प्रयोजन है, इसका प्रमाण या युक्ति क्या है ?'

बाबाजी—'वेदमें कहा गया है (मुण्डक ३।१।४)—

प्राणो ह्येष यः सर्व भूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्म-क्रीड आत्म-रतिः क्रिया—
वानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (घ)

अर्थात्, ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ पुरुष आत्मरति और आत्मक्रीड़ होकर प्रेमकी क्रिया द्वारा लक्षित होते हैं; यह रति ही प्रीति है । बृहदारण्यक (२।४।५,४।५।६) में कहते हैं—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं
भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति (ङ)

—उक्त मंत्र द्वारा यह जाना जाता है कि प्रीति ही जीवका मुख्य प्रयोजन है । बाबा ! वेद और श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें ऐसे-ऐसे अनेक प्रमाण हैं ।

(क्रमशः)

(क) नचिकेता ! तुमने आत्म-तत्त्व सम्बन्धी जो बुद्धि प्राप्त की है, उसे तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं ।

(ख) मैं ऐसा नहीं समझता कि मैं ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ । (मैं उनको जानता नहीं—ऐसी बात नहीं, और उनको मैं जानता हूँ—ऐसी बात भी नहीं है । अर्थात् हममें जो उन्हें जानते हैं, वे ही उनको जानते हैं ।

(ग) शाश्वत पुराण, मनुद्वारा उपदिष्ट धर्म, षडङ्ग वेद और चिकित्सा शास्त्र—ये चारों भगवान्‌के आज्ञा-सिद्ध अर्थात् आप्तवाक्य हैं । तर्क द्वारा इन चारोंकी हत्या करना या ध्वंस करना उचित नहीं है ।

(घ) जो प्राणियोंके मुख्य प्राण है, जो समस्त भूत-समुदायमें आत्माके रूपमें प्रकाशित हैं, उनको जो जानते हैं, वे विद्वान् पुरुष प्रेमभक्ति रूप विज्ञानके द्वारा परम पुरुषको जान करके अतिवादी नहीं होते (अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुषोंके लिये भगवान्‌के गुण-कीर्त्तनके अतिरिक्त और कुछ भी श्रेष्ठकीर्त्तनका विषय नहीं होता) । ऐसे-ऐसे जीवन मुक्त पुरुष भगवान्‌के प्रति रतियुक्त और उनकी प्रेम-लीलामें अवस्थित होते हैं—ऐसे पुरुष ही ब्रह्मविद् पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं ।

(ङ) याज्ञवल्क्यने कहा—मैत्रेयि । सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं ।